ISSN : 2320-7604
RNI NO. : DELHIN/2008/27588
Formerly UGC Care Approved Research Journal
October, 21, Part 1, Serial No. 143

त्रैमासिक
(संयुक्तांक)

बहुरि नहिं आवना

अंक-27
अप्रैल, 2024 – दिसम्बर, 2025
मूल्य : 200 रुपए

आजीवक महासंघ ट्रस्ट द्वारा निर्गत
संस्कृति, धर्म, दर्शन और साहित्य

त्रैमासिक (संयुक्तांक) बहुरि नहिं आवना अंक-27 अप्रैल, 2024 – दिसम्बर, 2025

वर्ष : 15
अंक : 27
अंक : **संयुक्तांक**-अप्रैल, 2024 - दिसम्बर, 2025
संस्थाओं के लिए प्रति कापी : 100 रुपए
वार्षिक सदस्यता शुल्क : 3000 रुपए
आजीवन सदस्यता : 10000 रुपए

संपादकीय पता
जे-5, यमुना अपार्टमेंट,
होली चौक, देवली,
नई दिल्ली-110080
मोबाइल : 09868701556
Email: bahurinahiawana14@gmail.com
Website-www.bahurinahiawana.in

Advertisement Rate
Full Page Rs. 20,000/-
Half Page Rs. 10,000/-
Qtr. Page Rs. 5,000/-
Back Cover Rs. 40,000/- (four colour)
Inside Front Rs.35,000/- (four colour)
Inside Back Rs. 35,000/- (four colour)

Mechanical Data
Overall Size 27.5 cms x 21.5 cms
Full Pages Print Area 24 cms x 18 cms
Half Page 12 cms x 18 cms or
24 cms x 9 cms
Qtr Page12 cms x 9 cms

प्रधान संपादक
प्रो. श्यौराज सिंह 'बेचैन'
संपादक
प्रो. दिनेश राम
सहायक संपादक
डा. अनिरुद्ध कुमार 'सुधांशु'
तान्या लांबा
भाषा सहयोग
डा. हेमंत कुमार 'हिमांशु'
डा. राजकुमार राजन
कानूनी सलाहकार
एड. सतपाल विर्दी
एड. संदीप दहिया

संपादकीय सलाहकार एवं विषय विशेषज्ञ
डा. वी. पी. सिंह, प्रो. राजेन्द्र बड़गूजर, बलवीर माधोपुरी, प्रो. फूलबदन, प्रो. नामदेव, प्रो. सुजीत कुमार, डा. चन्देश्वर, डा. दीनानाथ, डा. मोहन चावड़ा, विजय सौदायी, डा. यशवंत वीरोदय, डा. सुरेश कुमार, डा. मनोज दहिया

अप्रवासी समाज, संस्कृति और साहित्य के विशेषज्ञ
ओमप्रकाश वाघा, नरेन्द्र खेड़ा, राम बाबू गौतम, डा. गुलशन नजरोवना जुगुरोवा, डॉ. बयात रहमातोव, डा. सिराजुद्दीन नूरमातोव

- पत्रिका पूरी तरह अवैतनिक और अव्यावसायिक है।
- पत्रिका से संबंधित सभी विवादास्पद मामले केवल दिल्ली न्यायालय के अधीन होंगे।
- अंक में प्रकाशित सामग्री के पुनर्प्रकाशन के लिए लिखित अनुमति अनिवार्य है।
- 'बहुरि नहिं आवना' के सारे भुगतान मनीआर्डर/चैक/बैंक ड्राफ्ट 'बहुरि नहिं आवना' के नाम से स्वीकृत किये जायेंगे।
- स्वामी, संपादक, प्रकाशक एवं मुद्रक प्रो. दिनेश राम की ओर से भारत ग्राफिक्स, सी-83, ओखला इंडस्ट्रियल एरिया, नई दिल्ली-20 द्वारा मुद्रित एवं एफ-345, लाडो सराय, नई दिल्ली- 30 से प्रकाशित।
- 'बहुरि नहिं आवना' में प्रकाशित लेखों में आये विचार लेखकों के अपने हैं जिन से संपादकीय सहमति अनिवार्य नहीं।

अनुक्रम

1. घनानंद के काव्य में प्रेम का स्वरूप : एक अध्ययन	— *डॉ. थानेश्वर गिरि*	4
2. वैश्विक परिप्रेक्ष्य में भारतीय संस्कृति का संवर्धन	— *डॉ. हरेन्द्र कुमार* — *डॉ. हरिन्द्र कुमार*	8
3. हिंदी डायरी लेखन में प्रेमाभिव्यक्ति का स्वरूप	— *राम भवन यादव*	14
4. जँतसार के गीतों में स्त्री संवेदना	— *डॉ. अरविन्द कुमार सम्बल*	17
5. समकालीन भारतीय समाज की चुनौतियाँ और कबीर का काव्य	— *डॉ. राजकुमार राजन* — *डॉ. सायमा इकबाल*	26
6. भारतीय राजनीति को आकार देने में हिंदी भाषा की भूमिका	— *डॉ. सुमन यादव*	32
7. साहित्य, कला, संस्कृति और वर्चस्ववाद	— *राहुल कुमार यादव*	39
8. भारतीय खेल फिल्मों में खेल भावना और नैतिकता : रील से वास्तविकता तक	— *अभिषेक सिंह*	46
9. निराला कृत 'सरोज स्मृति' कविता में आत्मकथात्मकता	— *डॉ. चन्दा*	53
10. महाभारतकालीन समाज और नारी	— *उमा महेश्वर पाण्डेय*	57
11. समकालीन भारतीय समाज और पुनर्जागरण	— *डॉ. सायमा इकबाल* — *डॉ. राजकुमार राजन*	61
12. लोक साहित्य में गीतों के विविध रूप	— प्रो. राम किशोर यादव	67
13. नागार्जुन के उपन्यासों में संघर्षरत स्त्री	— *डॉ. प्रीतिलता सिंह*	73
14. अमरकांत जन्म-शताब्दी : अचर्चित कहानियों का नए सिरे से मूल्यांकन	— *पवन कुमार पाल*	80
15. कितनी सशक्त हुई भारतीय नारी	— *संतोष कुमार*	84
16. रामकथा और साकेत	— *प्रदीप कुमार विश्वकर्मा*	87
17. पत्रकारिता में प्रतिक्रिया भाग-1	— *डॉ. संजीव कुमार गौतम*	90

संपादकीय

दिनांक 20 नवंबर, 2025 को दिल्ली विश्वविद्यालय के शहीद भगत सिंह कालेज में डा. अम्बेडकर स्टडी सर्किल की तरफ से संविधान सप्ताह दिवस के उपलक्ष्य में एक संगोष्ठी का आयोजन किया गया। संगोष्ठी का शीर्षक था–'समान नागरिक संहिता और डॉ. अम्बेडकर'। मुख्य अतिथि और वक्ता के रूप में राष्ट्रीय अनुसूचित जाति आयोग, भारत सरकार के अध्यक्ष श्री किशोर मकवाना जी और गांधी भवन, दिल्ली के ज्वांइट डायरेक्टर और सेंटर फार सोशल डेवेलपमेंट के चेयरमैन डॉ. राजकुमार फुलवारिया जी ने भाग लिया। विषय प्रवेश के रूप में कालेज के प्राचार्य प्रो. अरुण अत्री ने 'समान नागरिक संहिता और डॉ. अम्बेडकर' विषय पर बहुत ही सारगर्भित ढंग से अपनी बात रखी।

अम्बेडकर स्टडी सर्किल का यह पहला कार्यक्रम था। यह स्टडी सर्किल प्राचार्य अरुण अत्री की पहल पर इसी साल अस्तित्व में आयी है। शहीद भगत सिंह स्टडी सर्किल और गाँधी स्टडी सर्किल पहले से ही अस्तित्व में हैं। हम इन तीनों स्टडी सर्किल के माध्यम से राष्ट्र निर्माण में अपने इन महापुरुषों के द्वारा दिए गए योगदानों को याद करते हैं। इस तरह हम उनके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करते हैं। इन तीनों महापुरुषों की विचारधाराएँ अलग-अलग थीं लेकिन इनका लक्ष्य एक ही था—राष्ट्रमुक्ति और राष्ट्र निर्माण।

संविधान निर्माता के रूप में बाबा साहेब डॉ. बी. आर. अम्बेडकर के योगदानों को खूब याद किया जाता है, लेकिन उनके द्वारा तैयार की गई 'हिंदू कोड बिल' पर कम चर्चा होती है। असल में, यह हिंदुओं के लिए तैयार की गई समान नागरिक संहिता थी जो उन्हें हिन्दू पहचान के रूप में एक सूत्र में बाँधती थी। इससे पहले लोग पारिवारिक मामलों में अलग-अलग अपनी सामाजिक परंपराओं और मान्यताओं के हिसाब से चलते थे जो समान न्याय की अवधारणा पर आधारित नहीं थीं। इसमें न्याय के समक्ष स्त्रियों को पुरुषों के बराबर समानता नहीं दी गयी थी।

इस तरह, 'हिन्दू कोड बिल' के माध्यम से डॉ. बी. आर. अम्बेडकर ने हिंदुओं की बहुत बड़ी सेवा की थी। इस बिल के माध्यम में से पहली बार जो लोग मुसलमान और इसाई नहीं थे वे हिंदू पहचान के रूप में कानूनी एकता के सूत्र में बंधे थे और न्याय के सामने स्त्रियों को पुरुषों के बराबर समान अधिकार मिले थे। इस बिल के महत्व के बारे में स्वयं बाबा साहेब ने लिखा-''हिंदू कोड इस देश की संसद द्वारा उठाया गया समाज सुधार का महानतम कदम था। भारतीय संसद द्वारा अतीत में और भविष्य में भी पारित किये जाने वाले किसी भी कानून की तुलना महत्व के आधार पर इससे नहीं की जा सकती।''

संविधान के अनुच्छेद 44 के भाग 4 के माध्यम से एक समान नागरिक संहिता का निर्माण किया जाना है जिसके दायरे में अन्य धर्मों के पर्सनल कानूनों को लाना है। यह काम चुनौती पूर्ण है पर होना है। डॉ. अम्बेडकर चाहते थे कि देश में एक समान नागरिक संहिता बने पर, सभी धर्मों के लोगों से विचार-विमर्श कर आम सहमति से बने। समान नागरिक संहिता के प्रश्न को टाला नहीं जा सकता, इसलिए कि यह कानून के समक्ष किसी धर्म की स्त्री और पुरुष की समानता का प्रश्न है।

घनानंद के काव्य में प्रेम का स्वरूप : एक अध्ययन

–डॉ. थानेश्वर गिरि

भूमिका

कवि घनानंद का जीवन और काव्य दोनों ही हिंदी साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। उनके काव्य में प्रेम, भक्ति और विरह की गहन अनुभूति है। इस परिचय में हम घनानंद के जीवन, साहित्यिक योगदान और उनकी काव्य शैली पर विस्तार से चर्चा करेंगे। घनानंद मुगल सम्राट मुहम्मद शाह के दरबार में काम करते थे। वे वहाँ एक उच्च पद पर आसीन थे और उनका जीवन वैभवशाली था। दरबारी जीवन ने उन्हें साहित्यिक और सांस्कृतिक दृष्टिकोण से समृद्ध किया।

घनानंद और उनका प्रेम

कवि घनानंद की प्रेमिका सुजान का वर्णन उनके काव्य में एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है। सुजान का प्रेम, उनकी सुंदरता और उनके प्रति घनानंद की भावनाएँ उनके काव्य का मुख्य विषय हैं। यहाँ हम सुजान के विभिन्न पहलुओं का वर्णन करेंगे, जो घनानंद के काव्य में देखने को मिलते हैं। घनानंद की प्रेमिका सुजान उनके जीवन का महत्वपूर्ण हिस्सा थीं। उनके काव्य में सुजान का उल्लेख बार-बार होता है और यह माना जाता है कि सुजान के प्रति उनके प्रेम ने उनके काव्य को गहराई और संवेदनशीलता प्रदान की। घनानंद ने सुजान की सुंदरता का वर्णन अपने काव्य में बड़े ही मोहक और सजीव ढंग से किया है। उन्होंने सुजान की आँखों, उसके चेहरे और उसकी अदाओं का वर्णन अत्यंत प्रेमपूर्वक किया है–

''नैन नैन सौं जो मिलै, नैनन की सुधि बिसराई।
नैनन में नैन बिसरत नहिं, पिय बिनु जिया लागे न॥''[1]

इसमें घनानंद ने सुजान की आँखों की सुंदरता का वर्णन किया है और बताया है कि वह उसकी आँखों को देखकर सब कुछ भूल जाता है। घनानंद ने अपने काव्य में सुजान के प्रति अपने प्रेम को अत्यंत भावुकता और संवेदनशीलता के साथ व्यक्त किया है। उनके काव्य में सुजान के प्रति उनकी गहरी भावनाएँ स्पष्ट दिखाई देती हैं–

''सखि, बिन देख्यो सुख होत नहिं,
बिन देख्यो सुख होत नहिं।
नैनन में नैन बिसरत नहिं, नैनन में नैन बिसरत नहिं॥''[2]

इस पंक्ति में घनानंद ने सुजान के बिना अपनी व्याकुलता और उसे देखने की लालसा का वर्णन किया है। घनानंद ने अपने काव्य में सुजान के प्रति अपने पूर्ण समर्पण को दर्शाया है। वे सुजान के प्रेम में इतने डूबे हुए हैं कि उन्हें अपने अस्तित्व का बोध भी नहीं होता–

''सुजान सौं रैन दिन, सुजान सौं रैन दिन।
घनानंद लै लै नाम, घनानंद लै लै नाम॥''[3]

इसमें उन्होंने बताया है कि उनका दिन और रात सुजान के नाम के साथ ही बीतता है और उनके जीवन का प्रत्येक क्षण सुजान के प्रेम में रमा हुआ है। सुजान के बिना घनानंद की स्थिति अत्यंत दयनीय हो जाती है। उन्होंने विरह के क्षणों को अत्यंत मार्मिकता से अपने काव्य में उतारा है–

''बिनु देखे अजहूँ परत हौं, बिनु देखे हौं परती परि रही हौं।
तन बिनु मन बिनु परत न थाक्यों, दुरि ते देखि परती परि रही हौं॥''[4]

इस पंक्ति में घनानंद ने विरह की पीड़ा को दर्शाया है और बताया है कि सुजान के बिना उनके जीवन में किसी भी चीज़ का महत्व नहीं है और वे सुजान के बिना अधूरे हैं। घनानंद ने अपने काव्य में सुजान के सौंदर्य का वर्णन भी बड़े ही सुंदर और मोहक ढंग से किया है। उन्होंने सुजान की आँखों, उसके चेहरे और उसकी सुंदरता को अपने काव्य में जीवंत किया है-

''नैन नैन सौं जो मिलै, नैनन की सुधि बिसराई।
नैनन में नैन बिसरत नहिं, पिय बिनु जिया लागे न॥''[5]

इसमें उन्होंने सुजान की आँखों की सुंदरता का वर्णन किया है और बताया है कि उसकी आँखों को देखकर सब कुछ भूल जाता है। कवि घनानंद की प्रेमिका सुजान उनके काव्य का केंद्रीय पात्र है। सुजान के प्रति घनानंद का प्रेम, उनकी व्याकुलता, उनके समर्पण और विरह की पीड़ा सब कुछ उनके काव्य में सजीवता से उभरता है। सुजान के माध्यम से घनानंद ने प्रेम की गहरी अनुभूतियों को व्यक्त किया है, जो हिंदी साहित्य में अद्वितीय और अमूल्य है। सुजान का प्रेम घनानंद के काव्य को एक विशेष गहराई और संवेदनशीलता प्रदान करता है।

घनानंद के काव्य में प्रेम का दार्शनिक और आध्यात्मिक पक्ष

घनानंद के प्रेम काव्य में प्रेम का दार्शनिक और आध्यात्मिक पक्ष प्रमुखता से उभरता है। उनके काव्य में प्रेम केवल सांसारिक आकर्षण नहीं है, बल्कि आत्मा और परमात्मा के मिलन का माध्यम है। उन्होंने प्रेम को आत्मा की एक गहरी अनुभूति और आध्यात्मिकता के रूप में प्रस्तुत किया है। घनानंद के काव्य में प्रेम का दार्शनिक और आध्यात्मिक पक्ष विशेष महत्व रखता है। उन्होंने प्रेम को केवल सांसारिक आकर्षण या भौतिक संबंधों तक सीमित नहीं रखा, बल्कि इसे एक गहरे दार्शनिक और आध्यात्मिक अनुभव के रूप में प्रस्तुत किया। उनके काव्य में प्रेम आत्मा और परमात्मा के मिलन का माध्यम है।

प्रेम का दार्शनिक पक्ष

घनानंद के काव्य में प्रेम आत्मा और परमात्मा के संबंध को दर्शाता है। उन्होंने प्रेम को आत्मा की गहन अनुभूति और परमात्मा के साथ मिलन की आकांक्षा के रूप में प्रस्तुत किया है—

''जाके मथुरा बसत अहल्या, ताको हरि भये।
साचों हरि और कहाँ, जाके हियरे गहे॥''[6]

इसमें घनानंद ने बताया है कि मथुरा में बसने वाली अहल्या के हृदय में भगवान बसे हुए हैं। प्रेम आत्मा के भीतर है और परमात्मा का वास उसी में है। घनानंद ने प्रेम को एक व्यक्तिगत अनुभव के रूप में प्रस्तुत किया है। यह अनुभव इतना गहरा है कि व्यक्ति स्वयं को भूलकर प्रेम में डूब जाता है—

''पिय बिनु जिया लागे न, पिय बिनु जिया लागे न।
सजनी, पिय बिनु जिया लागे न॥''[7]

इस पंक्ति में उन्होंने प्रेम की गहन अनुभूति को व्यक्त किया है, जहाँ प्रेमिका अपने प्रिय के बिना जीवन को अर्थहीन महसूस करती है।

प्रेम का आध्यात्मिक पक्ष

घनानंद के काव्य में भक्ति और प्रेम का अद्वितीय संबंध है। उन्होंने प्रेम को भगवान की भक्ति के रूप में देखा और इसे आध्यात्मिक उन्नति का मार्ग माना—

''जिन आंखिन माहीं रहे, नैनहिं पिय प्यारे।
सोई अखियाँ देखिए, जिनके पल में प्यारे॥''[8]

यहाँ उन्होंने बताया है कि जिन आँखों में प्रिय का वास है, वही आँखें देखने योग्य हैं। यह भक्ति और प्रेम की गहराई को दर्शाता है। घनानंद ने प्रेम को साधना के रूप में प्रस्तुत किया है। उनके काव्य में प्रेम की साधना एक आध्यात्मिक प्रक्रिया है, जो व्यक्ति को आत्मिक उन्नति की ओर ले जाती है—

''बिनु देखे अजहूँ परत हौं,
बिनु देखे हौं परती परि रही हौं।
तन बिनु मन बिनु परत न थाक्यों,
दुरि ते देखि परती परि रही हौं''[9]

इसमें उन्होंने बताया है कि बिना देखे भी वे प्रिय की याद में पूरी तरह से डूबे हुए हैं और यह दूरी आत्मा को भी महसूस हो रही है। यह प्रेम की साधना और उसकी आध्यात्मिक गहराई को दर्शाता है। घनानंद के काव्य में आत्मा की तड़प और विरह की वेदना का भी आध्यात्मिक पहलू है। उन्होंने विरह को आत्मा की तड़प और परमात्मा से मिलन की तीव्र इच्छा के रूप में प्रस्तुत किया है—

''कै ही गुर्नी यह रैन,
विरहिन सौं बतियात न आवत।
परत हौं परिअै निबाहि कै,
रहत हौं रहियै रहत न पावत॥''[10]

इस पंक्ति में उन्होंने रात्रि की लंबाई और विरह की तीव्रता को दर्शाया है। विरह आत्मा की तड़प को दर्शाता

है जो परमात्मा से मिलन की चाहत में है। घनानंद के काव्य में प्रेम का दार्शनिक और आध्यात्मिक पक्ष अत्यंत गहरा और व्यापक है। उन्होंने प्रेम को आत्मा और परमात्मा के मिलन का माध्यम माना और इसे भक्ति, साधना और आत्मा की तड़प के रूप में प्रस्तुत किया। उनके काव्य में प्रेम की गहन अनुभूति और उसकी आध्यात्मिक गहराई स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती है। यह दार्शनिक और आध्यात्मिक प्रेम उनके काव्य को एक विशेष ऊँचाई और गहराई प्रदान करता है, जो हिंदी साहित्य में अद्वितीय है–

''बिन देखे अजहूँ परत हौं,
बिन देखे हौं परती परि रही हौं।
तन बिनु मन बिनु परत न थाक्यों,
दुरि ते देखि परती परि रही हौं॥''[11]

इस पंक्ति में घनानंद ने दर्शाया है कि प्रेमिका के बिना जीवन अधूरा है और प्रेम की व्यंजना आत्मा की गहरी पीड़ा और तड़प में है।

विरह और मिलन की अनुभूति

घनानंद के काव्य में विरह और मिलन की अनुभूति का अत्यंत गहन और मार्मिक चित्रण मिलता है। उनके काव्य में ये दोनों भावनाएँ प्रेम के दो प्रमुख पहलू हैं। घनानंद के काव्य में विरह का दर्द अत्यंत मार्मिक और संवेदनशील ढंग से व्यक्त किया गया है। उन्होंने विरह की पीड़ा और तड़प को बहुत ही सजीवता से अपने शब्दों में पिरोया है—

''कै ही गुर्नी यह रैन,
विरहिन सौं बतियात न आवत।
परत हौं परिऐ निबाहि कै,
रहत हौं रहियै रहत न पावत॥''[12]

इसमें उन्होंने रात्रि की लंबाई और विरह की तीव्रता को दर्शाया है। विरह में समय बहुत कठिनाई से बीतता है और व्यक्ति को किसी भी प्रकार का संतोष नहीं मिल पाता। घनानंद ने विरह की व्याकुलता और अशांति को भी बहुत ही प्रभावी ढंग से व्यक्त किया है। प्रेमिका के बिना उनका मन अशांत और व्याकुल रहता है—

''अब और कछू समझावत नाहिं,
सखि, सबद सनेह सों गहे नहिं।
जौ लौं न देखौं नैन निहारि,
नाहिं समुझावत कछू कहै नहिं॥''[13]

इसमें उन्होंने बताया है कि अब किसी भी प्रकार की समझाई नहीं हो सकती, क्योंकि प्रेम के शब्दों का अब कोई असर नहीं हो रहा है। जब तक नैनों से निहार न लें, तब तक कोई भी बात समझ में नहीं आती। घनानंद के काव्य में विरह की वेदना आत्मा की तड़प के रूप में प्रकट होती है। यह तड़प इतनी गहरी है कि वह आत्मा के स्तर पर महसूस होती है–

''बिनु देखे अजहूँ परत हौं,
बिनु देखे हौं परती परि रही हौं।
तन बिनु मन बिनु परत न थाक्यों,
दुरि ते देखि परती परि रही हौं॥''[14]

इस पंक्ति में उन्होंने बताया है कि बिना देखे भी वे प्रिय की याद में पूरी तरह से डूबे हुए हैं और यह दूरी आत्मा को भी महसूस हो रही है। घनानंद ने अपने काव्य में मिलन के आनंद को भी बहुत ही सुंदर और सजीवता से व्यक्त किया है। मिलन की अनुभूति प्रेमी और प्रेमिका के लिए सबसे सुखद अनुभव है–

''सखि, बिन देख्यो सुख होत नहिं,
बिन देख्यो सुख होत नहिं।
नैनन में नैन बिसरत नहिं,
नैनन में नैन बिसरत नहिं॥''[15]

इस पंक्ति में उन्होंने बताया है कि प्रिय के बिना कोई भी सुख नहीं है और प्रिय के दर्शन के बिना नैनों की तृप्ति नहीं होती। घनानंद के काव्य में मिलन के समय का समर्पण और संतोष भी स्पष्ट दिखाई देता है। मिलन के क्षणों में प्रेमी और प्रेमिका का आत्मा से आत्मा का मिलन होता है।

''सुजान सौं रैन दिन, सुजान सौं रैन दिन।
घनानंद लै लै नाम, घनानंद लै लै नाम॥''[16]

इसमें उन्होंने बताया है कि उनका दिन और रात सुजान के नाम के साथ ही बीतता है, और उनके जीवन का प्रत्येक क्षण सुजान के प्रेम में रमा हुआ है। घनानंद के काव्य में मिलन की अनुभूति केवल शारीरिक नहीं है, बल्कि इसमें एक आध्यात्मिकता भी है। प्रेमी और प्रेमिका का मिलन आत्मा और परमात्मा के मिलन के रूप में भी देखा गया है।

''जिन आंखिन माहीं रहे, नैनहिं पिय प्यारे।
सोई अखियाँ देखिए, जिनके पल में प्यारे॥''[17]

यहाँ उन्होंने बताया है कि जिन आँखों में प्रिय का वास है, वही आँखें देखने योग्य हैं। यह मिलन की आध्यात्मिकता को दर्शाता है। घनानंद के काव्य में विरह और मिलन की अनुभूति का अत्यंत गहन और व्यापक

चित्रण मिलता है। विरह का दर्द, व्याकुलता और आत्मा की तड़प उनके काव्य को गहराई प्रदान करते हैं, जबकि मिलन का आनंद, समर्पण और संतोष उनके काव्य को संवेदनशीलता और आध्यात्मिकता से भर देते हैं। घनानंद ने अपने काव्य में प्रेम के इन दोनों पहलुओं को अद्वितीय ढंग से प्रस्तुत किया है, जिससे उनकी रचनाएँ हिंदी साहित्य में एक महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं।

प्रेम की सहजता और सरलता

घनानंद के प्रेम काव्य की एक और विशेषता है उसकी सहजता और सरलता। उनके प्रेम काव्य में शब्दों की सरलता और भावनाओं की सजीवता है, जिससे पाठक सीधे जुड़ाव महसूस करता है–

''पिय बिनु जिया लागे न
पिय बिनु जिया लागे न।
सजनी, पिय बिनु जिया लागे न॥''[18]

इसमें उन्होंने सरल और सहज भाषा में प्रेम की व्यंजना की है, जो सीधे दिल को छू लेती है।

प्रेम का रागात्मक स्वरूप

घनानंद के काव्य में प्रेम का रागात्मक स्वरूप भी देखा जा सकता है। उन्होंने प्रेम को एक संगीत की तरह देखा है, जिसमें एक लय और माधुर्य है–

''अधरतियाँ सों जो जागै
सजनी, अधरतियाँ सों जो जागै।
वहि सों पिय पायो न होय
वहि सों पिय पायो न होय॥''[19]

यहाँ उन्होंने प्रेम की व्यंजना को एक संगीत के रूप में प्रस्तुत किया है, जहाँ रात्रि के मध्य जागकर प्रेमी अपने प्रिय को पाने की आकांक्षा करता है।

निष्कर्ष–

घनानंद के काव्य में प्रेम व्यंजना का स्वरूप बहुत ही गहरा और विस्तृत है। उन्होंने प्रेम को केवल एक सांसारिक अनुभूति के रूप में नहीं, बल्कि एक आध्यात्मिक और दार्शनिक अनुभव के रूप में प्रस्तुत किया है। उनके काव्य में प्रेम की विभिन्न अवस्थाओं, स्थितियों और भावनाओं का सजीव चित्रण मिलता है, जो हिंदी साहित्य में अद्वितीय है। घनानंद की प्रेम व्यंजना उनकी काव्य कला की प्रमुख विशेषता है, जो उन्हें अन्य कवियों से अलग और विशिष्ट बनाती है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. घनानंद का काव्य – रामदेव शुक्ल; लोकभारती प्रकाशन: इलाहाबाद
2. घनानंद और स्वच्छंद काव्य धारा – मनोहरलाल गौड़. नागरी प्रचारिणी सभा, काशी
3. हिंदी साहित्य का इतिहास – आचार्य रामचंद्र शुक्ल. नागरी प्रचारिणी सभा
4. हिंदी साहित्य का अतीत भाग : 2, विश्वनाथ प्रसाद मिश्र; वाणी प्रकाशन, दिल्ली

डॉ. थानेश्वर गिरि
पं. रविशंकर शुक्ल विश्वविद्यालय
रायपुर (छत्तीसगढ़)
Mail Id - thaneshwar2528@gmail.com

वैश्विक परिप्रेक्ष्य में भारतीय संस्कृति का संवर्धन

– डॉ. हरेन्द्र कुमार
– डॉ. हरिन्द्र कुमार

सार

विश्व स्तर पर यदि हम परिवर्तन की बात कहते हैं तो यह देखने को मिलता है कि परिवर्तन यदि किसी परिवार, समाज या देश का हुआ है तो वहाँ एक संघर्ष की स्थिति बनती है और उसके बाद ही परिवर्तन होता है। परिवर्तन बिना संघर्ष के होना स्वाभाविक नहीं होता; चाहे वह आज के परिदृश्य में हो या प्राचीन परिदृश्य में हो, चाहे वह भारत से सम्बन्धित हो या वैश्विक या यह भी कह सकते हैं कि विश्व के किसी भी देश में परिवर्तन बिना संघर्ष के नहीं हुआ है।

बीज शब्द : भारतीय परम्परा, संघर्ष एवं सुधार।

प्रत्येक राष्ट्र की पहचान उसकी सांस्कृतिक धरोहर तथा सामाजिक मूल्यों से होती है। भारतीय संस्कृति का स्वरूप निःसंदेह समन्वयवादी तथा लोक कल्याणकारी रहा है। संस्कृति मानव-चेतना की स्वस्तिपरक ऊर्जा का ऐसा ऊर्ध्वमुखी सौन्दर्यमयी प्रवाह होता है जो व्यक्ति के मन, बुद्धि और आत्मा के सूक्ष्म व्यापारों की रमणीयता से होता हुआ समष्टि-कर्म की सुष्ठुता में साकार होता है। संस्कृति का एक रूप देश-काल सापेक्ष है तो दूसरा देश-काल निरपेक्ष। सचमुच भारत एक महासागर है। भारतीय संस्कृति महासागर है। विश्व की तमाम संस्कृतियाँ आकर इसमें समाहित हो गई हैं। आज जिसे आर्य संस्कृति, हिंदू संस्कृति आदि नामों से जाना जाता है, वस्तुतः वह भारतीय संस्कृति है। जिसकी धारा सिंधु घाटी की सभ्यता, प्रागवैदिक और वैदिक संस्कृति से झरती हुई नवोन्मेषकाल तक बहती रही है। अनेकानेक धर्मों, सभ्यताओं और संस्कृतियों को अपने में समाहित किए हुए इस भारतीय संस्कृति को सामासिक संस्कृति को कहना उचित है। संस्कृति की सामासिकता का तात्पर्य है कि इसमें अनेक ऐसे मतों को प्रश्रय मिला है, जो परस्पर नकुल-सर्प-संबंध के लिए प्रसिद्ध रहे हैं। अनेकता में एकता के साथ हमारे समाज की रचनात्मक उर्जा अधिकाधिक मानवतावादी दृष्टिकोण अपनाती रही है। यह सांस्कृतिक अनुशासन भारतीय समाज की विशिष्टता है।

दुनिया में भौतिक उन्नति के नित नए कीर्तिमान स्थापित हो रहे हैं। व्यक्ति जहाँ चन्द्रमा से बहुत ऊपर तक पहुँच गया है, वहीं समुद्र तल की गहराइयों की सीमाओं को भी लांघ चुका है। जहाँ एक ओर तकनीक के माध्यम से घर बैठे सफलतापूर्वक ड्रोन हमले संभव हुए हैं, तो वहीं दूसरी तरफ व्यक्ति विकास के नित नए साधनों का आविष्कार किये जा रहा है, किन्तु देखने में आ रहा है कि दुनिया भर में स्वार्थ सिद्धि और भौतिक उन्नति करते-करते व्यक्ति अपने प्राकृतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक व नैतिक उत्तरदायित्व को भूलता जा रहा है। वह यह भी भूल जाता है कि भगवान द्वारा निर्मित इस प्रकृति के संसाधनों पर सृष्टि के अन्य प्राणियों का भी उतना ही अधिकार है जितना तुम्हारा। एक सुसंस्कृत समाज में रहने वाले संस्कार युक्त व्यक्ति के प्रत्येक क्रिया-कलाप में विश्व कल्याण की भावना सदैव सन्निहित रहती है।

संस्कृति किसी भी समाज या राष्ट्र का आइना होती है। हालांकि संस्कृति की अवधारणा इतनी विस्तृत है कि उसे एक वाक्य में परिभाषित करना सम्भव नहीं है। तथापि, यह कहा जा सकता है कि मानव जीवन के दिन-प्रतिदिन के आचार-विचार, जीवन शैली, कार्य-व्यवहार, धार्मिक, दार्शनिक, कलात्मक, नीतिगत कार्य-कलापों, परम्परागत प्रथाओं, खान-पान, संस्कार इत्यादि के समन्वय को संस्कृति कहा जाता है। अनेक विद्वानों ने संस्कार के परिवर्तित रूप

को ही संस्कृति के रूप में स्वीकार किया है।

भारतीय संस्कृति के प्रेरणादायी बिन्दुओं पर विचार करें तो पाएंगे कि यह उदार, गुणग्राही व समन्वयशील रही है। संवेदना, कल्पना, आचरण, भाव, संयम, नैतिकता, उदारता व आत्मीयता के तत्व अविच्छिन्न रूप से जुड़े हुए हैं। नीति और सदाचार की रक्षार्थ कर्मफल का सिद्धान्त व पुनर्जन्म के प्रति आस्था एक ऐसी उत्तम दार्शनिक ढाल है जो व्यक्ति को अनैतिकता की ओर जाने ही नहीं देती। ईमानदारी, अतिथि सत्कार, दाम्पत्य मर्यादाओं की कठोरता, पुण्य, परोपकार, पाप के प्रति घृणा, जीव दया जैसे तत्व घोर दरिद्रता और सामाजिक अव्यवस्था के रहते हुए भी चिर स्थाई रहते हैं।

वास्तव में संस्कृति ऐसी आदर्श श्रृंखला है जिसे कोई भी झुठला नहीं सकता, यहाँ तक कि व्यवहार में उन सिद्धान्तों के प्रतिकूल चलने वाला भी खुले रूप में उसका विरोध नहीं कर सकता। गंभीरता से विचार करें तो हम पाएंगे कि चोर अपने यहाँ दूसरे चोर को नौकर नहीं रखना चाहता। व्यभिचारी अपनी कन्या का विवाह व्यभिचारी के साथ नहीं करता और न अपनी पत्नी को किसी ऐसे व्यक्ति के साथ घनिष्ठता बढ़ाने देता है। ग्राहकों के साथ धोखेबाजी करने वाला दुकानदार भी वहाँ से माल नहीं खरीदता जहाँ धोखेबाजी की आशंका रहती है। झूठ बोलने का अभ्यासी भी सम्बन्धित लोगों से यही अपेक्षा करता है कि वे उसे सच बात बताया करें। अनैतिक आचरण करने वालों से पूछा जाय कि आप न्याय अन्याय में से-उचित अनुचित में से-सदाचार दुराचार में से किसे पसन्द करते हैं तो वह नीति पक्ष का ही समर्थन करेंगे। अपने सम्बन्ध में परिचय देते समय हर व्यक्ति अपने को नीतिवान के रूप में ही प्रकट करता है। इन तथ्यों पर विचार करने से प्रकट होता है कि भारतीय संस्कृति की अन्तरात्मा एक ऐसी दिव्य परम्परा के साथ गुँथी हुई है जिसे झुठलाना किसी के लिए भी- यहाँ तक कि पूर्ण कुसंस्कारी के लिए भी सम्भव नहीं हो सकता। वह अपने दुराचरण के बारे में अनेक विवशताएँ बताकर अपने को निर्दोष सिद्ध करने का प्रयत्न तो कर सकता है, पर अनीति को नीति कहने का साहस नहीं कर सकता। यही कारण है जिसके आधार पर भारतीय संस्कृति को विश्व की कालजयी संस्कृति कहा गया है।

कोई अन्य हमारा भाग्य विधाता नहीं है बल्कि व्यक्ति अपना विकास अपने परिश्रम से स्वयं ही कर सकता है। वह अपने सुख-दुःख दोनों का कर्ता स्वयं ही तो है। यम, नियम, योग, ध्यान, प्राणायाम, आसन इत्यादि से जहां व्यक्ति स्वयं को मजबूत करता है वहीं 'सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामया' या 'इदम राष्ट्राय, इदम न मम' या 'परम वैभवन्ने, त्वमेव तत स्वराष्ट्र' की प्रार्थना के द्वारा सृष्टि के सभी प्राणियों के कल्याण की कामना करता है।

मातृवत परदारेषु, पर द्रव्येषु लोष्ठवतः यानि मातृ शक्ति को देवी रूप में मानना तथा दूसरे के धन को मिट्टी के समान मानना हमारी संस्कृति की विशेषताएं हैं। वर्ण व्यवस्था जन्म-जाति के साथ जुड़कर भले ही आज विकृत हो कर बदनाम हो, पर उसके पीछे अपने व्यवसाय तथा अन्य विशेषताओं को परम्परा गत रूप से बनाये रहने की भारी सुविधा है। आज छोटे-छोटे कामों के लिए नये सिरे से ट्रेनिंग देनी पड़ती है जबकि प्राचीन काल में वह प्रशिक्षण वंश परम्परा के आधार पर बचपन में आरम्भ हो जाता था और अपने विषय की प्रवीणता सिद्ध करता था। आश्रम व्यवस्थान्तार्गत ब्रह्मचर्य और गृहस्थ में बीतने वाली व्यक्ति की आधी आयु भौतिक प्रगति के लिए और आधी आयु आत्मिक ज्ञान के संवर्धन के लिए है। वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम आत्मिक श्रेष्ठता के संवर्धन तथा लोकमंगल कारी कार्यों में योगदान देने के लिए निश्चित है। इससे व्यक्ति और समाज दोनों की श्रेष्ठता समुन्नत रहती है।

प्राचीन काल से ही हमारे यहाँ तीर्थाटन द्वारा स्वास्थ्य संवर्धन, अनुभव वृद्धि, स्वस्थ मनोरंजन, व्यवसाय वृद्धि, अर्थ वितरण जैसे अनेक लाभ बताए हैं। देवदर्शन के बहाने तीर्थयात्री गाँव-गाँव, गली मुहल्लों में जाकर जहां धार्मिक जीवन की प्रेरणा देते हैं, वहीं साधु-संतों, ब्राह्मणों इत्यादि के आथित्य सत्कार एवं दान दक्षिणा के पीछे भी यही भावना भरी हुई है कि लोक सेवा के लिए स्वयं समर्पित कार्यकर्ताओं को किसी प्रकार की आर्थिक तंगी का सामना न करना पड़े।

पर्वों, त्योहारों और जयन्तियों की अधिकता भारतीय संस्कृति की ऐसी विशेषता है जिसके सहारे सत्परम्पराओं को अपनाये रहने और प्रेरणाओं को हृदयंगम किये रहने के लिए पूरे समाज को निरंतर प्रकाश मिलता है। व्रत-उपवासों से जहाँ उदर रोगों की कारगर चिकित्सा की पृष्ठभूमि बनती है वहीं मनः शुद्धि का भाव भी जुड़ा है। प्रत्येक शुभ कर्म के साथ अग्निहोत्र (हवन) जुड़ा रहने के पीछे भी लोगों को यज्ञीय जीवन जीने की प्रेरणा सन्निहित है।

आज के भौतिक चिन्तन ने ब्रह्माण्ड की परिकल्पना

एक विराट मशीन के रूप में की है। विकास के नाम पर 24 घंटे बिजली और चमचमाती सड़कों का जाल बिछाने के अलावा विश्व के अधिकाँश देश मशीनों के द्वारा अधिकाधिक उत्पादन व उत्पादित सामान की खपत के लिए मंडियों की तलाश के साथ अधिकाधिक पूँजी जुटाने की दौड़ में लगे हैं। इसके लिए प्रकृति का निर्मम दोहन किया जा रहा है। कारखानों का जहरीला धुँआ हवा को तथा केमीकल रूपी जहर नदियों के पानी को जहरीला बना रहा है। रासायनिक खाद ने तो हमारी जमीन को ही जहरीला बना दिया है। परिणामत: व्यक्ति को न तो श्वसन हेतु साफ हवा, न पीने को साफ पानी और न ही पेट भरने को पौष्टिक रोटी व सब्जी ही उपलब्ध है। बाजारवाद और तथाकथित विकास ने हाथ मिलाकर हवा, पानी, जमीन को जहरीला बना दिया है।

इस सबके उलट भारतीय सांस्कृतिक दर्शन सदैव प्रकृति का पुजारी रहा है। इसमें कहा गया है कि प्राकृतिक संसाधनों का उचित उपयोग तो करें किन्तु उसके दोहन की स्पष्ट मनाही है। शायद इसी कारण हमारे यहाँ पेड़-पौधों, नदियों-तालाबों, खेत-खलिहानों, पशु-पक्षियों, कूप-बावडियों इत्यादि को समय-समय पर पूजे जाने का विधान है। जिससे उनमें हमारी आस्था गहरी बनी रहे और उनके अनावश्यक दोहन से बचें।

मध्य प्रदेश के भीमबेटका में पाये गये शैलचित्र, नर्मदा घाटी में की गई खुदाई तथा सिन्धु घाटी की सभ्यता के विवरणों से भी प्रमाणित होता है कि हजारों वर्ष पहले उत्तरी भारत के बहुत बड़े भाग में एक उच्च कोटि की संस्कृति का विकास हो चुका था। भारतीय संस्कृति की सहिष्णुता एवं उदारता के कारण ही बाहर से आने वाले शक, हूण, यूनानी एवं कुषाण जैसी प्रजातियों के लोग भी घुलमिल कर अपनी पहचान खो बैठे। अन्य देशों की संस्कृतियाँ तो समय की धारा के साथ-साथ नष्ट होती रही हैं, किन्तु भारत की संस्कृति आदि काल से ही अपने परम्परागत अस्तित्व के साथ अजर-अमर बनी हुई है। भारतीय संस्कृति के इस लचीले स्वरूप में जब भी जड़ता की स्थिति निर्मित होती हुई नजर आई, तब किसी न किसी महापुरुष ने इसे गतिशीलता प्रदान की। प्राचीनकाल में भगवान बुद्ध और भगवान महावीर, मध्यकाल में जगद्गुरू शंकराचार्य, कबीर, गुरु नानक और चैतन्य महाप्रभु तथा आधुनिक काल में स्वामी दयानन्द, स्वामी विवेकानन्द एवं महात्मा ज्योतिबा फुले इत्यादि द्वारा किये गए प्रयास इस संस्कृति की महत्त्वपूर्ण धरोहर बन गए।

सम्पूर्ण भारत में जन्म, विवाह और मृत्यु के संस्कार, रीति-रिवाज, आचार-व्यवहार और तीज-त्यौहारों में भी समानता है। 16520 बोलियों तथा औपचारिक रूप से मान्यता प्राप्त 18 भाषाओं की विविधता के बावजूद, संगीत, कला साहित्य नृत्य और नाट्य के मौलिक स्वरूपों में आश्चर्यजनक समानता है। संगीत के सात स्वर और नृत्य के त्रिताल सम्पूर्ण भारत में समान रूप से प्रचलित हैं। भारत अनेक धर्मों, सम्प्रदायों, मतों और पृथक् आस्थाओं एवं विश्वासों का महादेश है, तथापि इसका सांस्कृतिक समुच्चय और अनेकता में एकता का स्वरूप संसार के अन्य देशों के लिए न सिर्फ विस्मयकारी बल्कि अनुपालन के योग्य बन गया है। आज दुनिया के अनेक देशों ने अपनी सुख सम्पदा और तरक्की के असीमित साधन जुटा लिए हों किन्तु सच्चा सुख, शान्ति, मानवता, आध्यात्मिकता और प्रकृति प्रेम जो भारत में दिखाई देता है वह अन्यंत्र कहीं नहीं। क्योंकि भारतीय संस्कृति जिन मूल गुणों व मूल्यों से भारी हुई है वही इसे महान बनाते हैं. आज जहां विश्व की हर बड़ी से बड़ी समस्या का समाधान हमारे सांस्कृति मूल्यों में निहित है वहीं वैश्विक उन्नति का आधार भी भारतीय संस्कृति ही है।

विश्व में संस्कृति परिवर्तन संघर्ष युक्त रहा है। इंग्लैण्ड, रूस, अमेरिका, रोम, ब्रिटेन, फ्रांस व चीन आदि देशों में परिवर्तन संघर्षों के माध्यम से हुए हैं। यहां पर एक विचार अवश्य स्थापित होता है कि भारत की अपेक्षाकृत विश्व के अन्य देशों में जो संघर्ष हुए उसमें हज़ारों लोगों की जाने भी गयीं। विश्व की कुछ प्रमुख क्रांतियां इस प्रकार हैं-

1. 64वीं ई. में रोम अग्निकाण्ड-यह अग्निकाण्ड 6 दिनों तक चलता रहा, रोम बर्बाद हो गया। रोमन सम्राट नीरो इस काण्ड के लिये उत्तरदायी था।

2. 1337 ई. में इंग्लैण्ड एवं फ्रांस के बीच युद्ध की शुरुआत जो 1453 ई. में समाप्त हुयी।

3. 1688 ई. में ब्रिटेन की गौरवपूर्ण क्रांति।

4. 1776 ई. में अमेरिका की क्रांति।

5. 1789 ई. में फ्रांस की क्रांति प्रारम्भ हुई। इस क्रांति में वास्तील के किले का पतन हुआ।

6. 1917 ई. में रूस की क्रांति।

7. 1949 ई. में चीन की लाल क्रांति।

8. 1966 ई. में चीन की सांस्कृति क्रांति।

इन क्रांतियों का उल्लेख करने का उद्देश्य मात्र इतना है कि इन क्रांतियों में भारत की अपेक्षा लाखों लोगों की मृत्यु परिवर्तन हेतु हुई। इन देशों में लोगों ने अपनी ही प्रजातियों के विरुद्ध, अपने देश की सत्ता के विरुद्ध, अपने राजा के विरुद्ध संघर्ष किया एवं लाखों लोगों को काल के गाल में समाप्त होते देखा। इस संघर्ष में यह नहीं देखा गया कि वह प्राणी मात्र हैं। वह संघर्ष कर रहा है तो उसे समाप्त करना या दमन करना ही प्रतिपक्ष का एक विकल्प है और मात्र वह दमन ही अपना अन्तिम लक्ष्य समझते थे। ऐसा करते विश्व के कई देशों को देखा गया और ऐसे संघर्ष का कारण यदि देखा जाये तो उनका वातावरण, परिवेश या जलवायु रही है। वहां का खान-पान एवं इतिहास इन्हीं तथ्यों से सम्बन्धित रहा है। जिसके कारण वह इस प्रकार के संघर्ष करते हैं एवं परिवर्तन की आशा करते हैं। विश्व के कई देशों की जलवायु यदि देखें तो जहाँ उष्णता है वहां उष्णता ही है, जहां शीतलता है वहां शीतलता ही है, कहीं जल ही जल है, तो कहीं मैदान ही मैदान है। वहां की जलवायु भी उस संघर्ष को बढ़ावा देती है और परिवर्तन के लिये संघर्ष करना एवं लाखों लोगों के खून को बहाना क्रान्ति है।

इस सन्दर्भ में यदि हम भारत की बात करते हैं तो निश्चित रूप से यहाँ भी परिवर्तन हुए हैं और संघर्ष हुए हैं, परन्तु यहां हजारों लोगों के मृत्यु से परिवर्तन स्वाभाविक नहीं है। युद्धों द्वारा कई परिवर्तन हुए परन्तु यदि कई अन्य परिवेश में देखा जाय तो यहां पर शांति, अध्यात्म, सहिष्णुता, सहजता एवं सरलता व्याप्त होने के कारण कई ऐसे परिवर्तन हुए जो कि विचारों एवं चिन्तन के आधार पर कहे जा सकते हैं। इनका सबसे बड़ा कारण अध्यात्म रहा है। यदि हम अध्यात्म को धर्म से जोड़ते हैं तो यह हमारी भूल है। अध्यात्म एक जीवनशैली है एवं हमारे प्रत्येक कार्यों में इसकी झलक व्याप्त होती है। यदि यहाँ की जलवायु, वातावरण, रहन सहन एवं परिस्थिति को देखे तो यहाँ छः ऋतुएँ, सूर्य एवं चन्द्रमापूर्ण प्रकाश, कई नदियाँ, पहाड़ी समुद्र से घिरा हुआ एवं अन्य कई विविधताएं व्याप्त हैं जो कि भाषा, बोली, पहनावा एवं रीति-रिवाज के रूप में परिलक्षित होती हैं। इन्हीं विविधताओं एवं अनेकता के कारण भारतीय संस्कृति विश्व की संस्कृतियों में सबसे पुरातन एवं स्थायी है।

संघर्ष एवं परिवर्तन की बात की जाये तो वैदिक काल से देखते हैं कि इस काल को ऋग्वेद का काल कहा गया है एवं उस समय वेदों के ऋचाओं के माध्यम से शास्त्र ज्ञान एवं उन्हीं के आधार पर शिक्षा, सामाजिक संतुलन, एवं वैचारिक सन्तुलन बनाये रखना था।

उत्तर वैदिक काल आया तो यहां पर वैदिक काल की कुछ कमियों को विचारों एवं आध्यात्मिक शक्तियों के माध्यम से परिवर्तन में लाया गया। दोनों कालों में यदि स्त्रियों की बात की जाय तो स्त्रियाँ पढ़ी-लिखी एवं शास्त्रार्थ में बराबर की भागीदारी करने वाली थी। ऋग्वैदिक कालीन समाज में स्त्रियों को आदरपूर्ण स्थान दिया गया। इस समय कन्या को पुत्र जैसा ही शैक्षिक अधिकार एवं सुविधायें प्रदान की गयी थी। कन्याओं का भी उपनयन संस्कार होता था तथा वह भी ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करती थीं। ऋग्वेद में ऐसी अनेक नारियों का उल्लेख मिलता है जिन्होंने अनेक मंत्रों एवं स्त्रोतों की रचना की। ऐसी स्त्रियों में घोषा, लोपा मुद्रा, शिकता, निनावरी, शाश्वती, अपाला एवं इन्द्राणी आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ऋग्वैदिक समाज बाल-विवाह, पर्दा-प्रथा, सती-प्रथा आदि सामाजिक बुराईयों से मुक्त दिखाई पड़ता है।

कुछ स्थितियां विपरीत रही तो विचारों एवं आध्यात्म के माध्यम से उत्तर वैदिक काल का प्रारूप प्राप्त होता है। उसके उपरान्त बौद्ध काल का प्रादुर्भाव हुआ। इसका कारण भी स्पष्ट पता चलता है कि उत्तर वैदिक काल एक अत्यधिक आडम्बर एवं रूढ़ियों का काल हो गया था एवं सामान्य मनुष्य इन सबसे ऊब चुका था। यह परिवर्तन मूर्ति पूजा के विरोध में था और नये काल की उत्पत्ति भगवान बुद्ध द्वारा लायी गयी जिसे बौद्ध काल कहा गया। यह काल मात्र और मात्र अपने अध्यात्म विचारों के माध्यम से स्थापित हुआ और इनके विचारों के माध्यम से देश ही नहीं अपितु विदेशों तक सहजता, सरलता एवं शांति की स्थापना हुयी। बौद्ध काल समाप्त होने के कारण को यदि हम देखें तो पता चलता है कि जिस मूर्ति पूजा का विरोध हुआ हो उसी बौद्ध काल में सर्वाधिक बुद्ध की मूर्ति स्थापित होती है और उनके ही सम्प्रदाय में कई सम्प्रदाय बनते हैं और समाप्त होते हैं। उनमें भी कुछ त्रुटियाँ आती हैं एवं बौद्ध काल का समाप्त होना भी एक विचारधारा के उत्पन्न होने से है।

बौद्धकाल के पश्चात् नाथ व सिद्ध हुये। 9 नाथों का जो समय रहा वह भी विचारों के माध्यम से ही भारत में स्थापित हुये एवं अपनी रचना एवं रचनावलियों के माध्यम से भारत जन मन में व्याप्त हुये। नाथ सम्प्रदाय में भी

त्रुटियाँ एवं कमियाँ आती गयीं। जहां पर बौद्ध में सरलता, सहजता थी, वहीं नाथ में हठ योग था तथा उससे भी लोग उबते गये।

तत्पश्चात् सिद्धों का समय आया। 84 सिद्धों ने भी अपनी रचनाओं एवं कृतियों के माध्यम से तथा अपने प्रवास, संगत व सतसंग के माध्यम से अपने को स्थापित करना चाहा एवं स्थापित भी रहे, परन्तु कुछ विषयगत त्रुटियाँ सिद्धों में भी व्याप्त होती गयी। जिसके कारण सिद्ध भी सीमित होते गये।

भारतीय इतिहास और संस्कृति का आधार अत्यधिक प्राचीन है। देश की सामाजिक संस्थायें इसी प्राचीनता के योग से पल्लवित एवं पुष्पित हुई है एवं किसी भी तरह के परिवर्तन होने पर भी हमारी संस्कृति एवं परम्परा में बड़ा परिवर्तन नहीं आया है। इसका कारण है भारत की जीवन शैली एवं आध्यात्म। यदि हम ध्यान दें तो छठी सदी ई.पू. से बारहवीं सदी तक विभिन्न विदेशी जातियों ने भारत पर आक्रमण किया तथा अपनी शक्ति एवं क्रूरता के बल पर स्थानीय संगठनों को तोड़ने का उपक्रम किया। इनमें पारसी, यूनानी, यूनानी-बाख्त्री, शक, पहल्लव, कुषाण, ह्यूण, मुगल एवं अंग्रेज थे जिन्होंने भारत में अपना राज्य स्थापित किया तथा सदियों तक शासन किया। पूरा विदेशी अक्रामक जातियों के कारण यहां की संस्कृति को अनेक बार आघात लगा जिसके फलस्वरूप देश में सम्मिश्रण की सम्भावना भी हुयी तथा सामाजिक संस्थाओं के टूटने का भी भय हुआ। किन्तु भारतीय संस्कृति, परम्पराओं एवं आध्यात्मिकता की जड़ें इतनी गहरी थीं कि इनको उखाड़ पाना असम्भव था। यहाँ पर आक्रमण करने वाली कई जातियों के शासकों ने यहाँ पर शासन तो किया परन्तु वहीं हम देखते हैं कि कई ऐसे शासक रहे जो भारतीय आध्यात्म से इतने ओत-प्रोत हो गये कि यही इसी समाज एवं अध्यात्म में मिश्रित हो गये और भारतीय अध्यात्म में अपना पूरा जीवन व्यतीत कर दिया। इनमें कुषाण एवं हूण वंश के राजाओं का नाम आता है जो भारतीय संस्कृति एवं अध्यात्म में नहीं मिश्रित हुये वह बौद्ध धर्म में चले गये एवं वह धर्म ग्रहण कर लिया। उन्होंने अपना पूरा जीवन भारत में आत्मसात् कर दिया।

भारत में मुसलमानों के आक्रमण से हमारी संस्कृति एवं धर्म की क्षति तो हुई है, वहां एक तरफ हम देखें तो इनके आक्रमण एवं उपद्रव के बाद हम अपने आप को संकुचित कर देते हैं और अध्यात्म की तरफ भागवत् भजन की तरफ मोड़ देते हैं और धैर्य धारण करते हुये ईश्वर वन्दना में लग जाते हैं। जब हमारे समाज सुधारक एवं समाज के प्रबुद्ध वर्ग भगवत भजन की तरफ आकर्षित होते हैं तो हमारा समाज भी भगवत भजन की तरफ केन्द्रित हो जाता है इससे हमारे समाज को बांधने का कार्य अध्यात्म ही करता हुआ प्रतीत होता है। सुनीत कुमार चटर्जी-''भक्ति द्राविड़ उपजी, लाये रामानन्द''।

यहाँ यह भक्ति उद्धृत करने का तात्पर्य है कि उसी समय जब इन आतताईयों से भययुक्त थे तो दक्षिण भारत में भक्ति का प्रादुर्भाव होता है एवं रामानन्द जी उसे उत्तर भारत लाते हैं। दक्षिण भारत में रामानुजाचार्य ने भक्ति का उद्भव किया। यहाँ पर पुन: जातिवाद, आडम्बर, रूढ़ियों को समाप्त होते देखा गया और जो प्रबुद्ध वर्ग भक्ति भजन करने को प्रेरित कर रहे थे वह इन कुरीतियों से दूर होने को भी प्रेरित करते थे, और जो आतातायी हमारी संस्कृति को नष्ट कर रहे थे उनसे एकजुट होकर के ही हम लड़ सकने में समर्थ होते गये। यदि हम देखें तो रामानन्द के शिष्यों में जहाँ कबीर, पीपा, सेना, धन्ना वहीं रैदास भी हैं। यहां देखा जा सकता है कि सब भिन्न-भिन्न जातियों से थे यहां पर जाति महत्वपूर्ण नहीं थी हमारी विचारधारा महत्वपूर्ण थी। जहां एक तरफ निगुर्ण भक्तिधारा थी, वहीं दूसरी तरफ सगुण भक्ति धारा थी। सभी जो जिस प्रकार से अध्यात्म का संदेश दे सकता था वह देता था। अर्थात् हम अपनी संस्कृति विरासत को अपने अपने विचारों एवं कार्यों के माध्यम से पुन: समाज को एकत्र एवं संगठित करने का कार्य कर रहे थे। यहाँ भी यह कहा जा सकता है कि हम अपनी आध्यात्मिक धरोहर या शक्ति के बल पर समाज को एकजुट कर खड़ा करने का कार्य कर रहे थे। हिन्दी के विद्वान एवं आलोचक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने 'हिन्दी साहित्य के इतिहास' में कहा है कि ''अपने पौरुष से हताश जाति के लिये भगवान की शक्ति और करूणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था?''

वहाँ जब अंग्रेजों ने हमारे ऊपर आक्रमण किया तो कहीं संघर्ष तो कहीं ऐसी रचनाधर्मिता भी हुई जो राष्ट्र शक्ति को याद कराती थी एवं अंग्रेजों का विरोध करती थी। जहाँ दिनकर जी एक तरफ राज्य सभा के सांसद थे वहीं दूसरी तरफ दिनकर जी ने राष्ट्रहित में रचनाएँ लिखीं जो अंग्रेजों को हिला देती थीं। अंग्रेजों की तरफ से जब इसका विरोध हुआ तो दिनकर जी ने राज्य सभा से त्याग

पत्र दे दिया। यहाँ राष्ट्रभक्ति का उदाहरण प्राप्त होता है एवं इस पद को त्याग कर उन्होंने देशहित एवं सांस्कृतिक विरासत को आगे ले जाने का कार्य किया है।

आज हम भी अपनी सांस्कृतिक विरासत एवं आध्यात्मिक शक्ति के द्वारा विश्व पटल पर एक महत्वपूर्ण भूमिका में हैं। अतः यहाँ यह कहना सर्वथा उचित होगा कि विश्व के अन्य देशों में परिवर्तन तो हुए लेकिन हजारों निर्दोष लोगों के संघर्ष एवं मृत्यु के बाद यह परिवर्तन संभव हुआ। परन्तु भारत में विचारों, संस्कृति, परम्परा एवं आध्यात्मिक शक्ति के द्वारा ही अत्यधिक परिवर्तन हुए जो कि आज भी प्रासंगिक सिद्ध होते हैं।

संदर्भ सूची

1. सिंह, सरला; भारतीय इतिहास पटल पर नारी: एक विमर्श, सम्मेलन पत्रिका, प्रयाग, भाग 101, पृष्ठ-109.
2. रानी, डॉ. पूनम; भारतीय संस्कृति की विशिष्टताएँ, सम्मेलन पत्रिका, प्रयाग, भाग-101, पृष्ठ-123
3. विवेकानन्द, स्वामी; शिक्षा संस्कृति और समाज, पृष्ठ-10.
4. शोध धारा, वर्ष 2014, जून अंक।
5. चतुर्वेदी, रामस्वरूप; हिन्दी साहित्य एवं संवेदना का विकास, संस्करण-2000.
6. महला, अरविन्द कुमार; कटारिया, डॉ. सुरेन्द्र, भारतीय समाज पर वैश्वीकरण का प्रभाव, 'वैश्वीकरण भारत : प्रभाव एवं बाधाएँ' नेशनल पब्लिशिंग हाउस, जयपुर एण्ड दिल्ली, 2010.
7. शुक्ल, आचार्य रामचन्द्र; हिन्दी साहित्य का इतिहास, प्रिया प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण 2009-10.
8. गुप्ता, प्रो. राजीव; वैकल्पिक व्यवस्था की सामाजिक चेतना एवं भारत में समाज शास्त्र, राजस्थान जर्नल ऑफ सोशियोलॉजी, वॉ. 1, नं. 1, 2009.
9. द्विवेदी, संजय; कांत, डॉ. श्री, मीडिया विमर्श वार्षिकांक अक्टूबर से दिसम्बर, 2014.
10. सिंह, गिरीश कुमार, भरतीय संस्कृति एवं सभ्यता, ओमेगा पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2009, पृष्ठ 237.
11. सिंह, डॉ. सोहन, भाषा संस्कृति और समाज, पृ. 101.

डॉ. हरेन्द्र कुमार

असि. प्रो. एवं अध्यक्ष समाजशास्त्र विभाग

जे. एस. हिन्दू (पी.जी.) कॉलेज

अमरोहा (उ.प्र.)

डॉ. हरिन्द्र कुमार

सहा. प्रो. समाजशास्त्र

कु. मा. रा. म. स्नातकोत्तर महाविद्यालय

बादलपुर, गौतमबद्ध नगर (उ.प्र.)

हिंदी डायरी लेखन में प्रेमाभिव्यक्ति का स्वरूप

– राम भवन यादव

डायरी की एक महत्वपूर्ण विशेषता है कि इसमें अनेक विषयों का समावेश एक पुस्तक में किया जाता है। हमारी चित्तवृत्तियाँ हर क्षण एक जैसी नहीं होती हैं। यही वजह है कि डायरी लेखन में विविधता ज्यादा पाई जाती है। सौन्दर्य और प्रेम एक ऐसा विषय है कि जीवन को प्रेम करने वाला प्रत्येक साहित्यकार इस विषय पर चिंतन अवश्य करता है। सौन्दर्य का संबंध दृष्टि से है और प्रेम का संबंध अनुभूति से है। अनुभूत संवेदन ही हमारी भावनाओं को संचालित करते हैं। साहित्यकार के सृजन में उसकी संवेदनाओं की छाया ही चित्रित होती है।इस प्रतिसंवेदन को डायरी में उसके मूल रूप में ही व्यक्त किया जाता है। यही कारण है कि डायरी में सौन्दर्य और प्रेम का बहुत यथार्थ और अकृत्रिम स्वरूप व्यक्त हुआ है। प्रत्येक लेखक ने इन विषयों को अपनी दृष्टि से देखने का प्रयास किया है। निर्मल वर्मा प्रेम को 'स्वप्न की अवस्था' कहते हैं। उनका मानना है कि हम तभी तक किसी को अपना मानते हैं जब तक वह हमारे साथ में या हमारे स्वप्न में है। जैसे ही वह व्यक्ति स्वप्न छोड़कर यथार्थ की दुनिया में प्रवेश करता है, हम दुबारा स्वप्न देखने लगते हैं। यानी जब तक सामने वाला व्यक्ति स्वप्न में है, तब तक हम प्रेम का भ्रम या ढोंग करते रहते हैं। ''जब हम दुबारा प्रेम करने लगते हैं तो पता चलता है कि जब हम जगे थे, तो इसलिए कि दूसरा व्यक्ति हमारा स्वप्न छोड़कर अपने यथार्थ में चल गया है और हम बत्ती बूझाकर नए सिरे से दूसरा स्वप्न देखने लग जाते हैं।''[1] इसीलिए निर्मल वर्मा प्रेम के क्षण को कृतघ्नता का क्षण भी कहते हैं। ''जिन्हें हम अपने जीवन के 'सृजनात्मक क्षण' कहते हैं वे घोर कृतघ्नता के क्षण होते हैं। वे चाहे प्रेम के हों या लेखन के।''[2] मनुष्य स्वभाव की यह प्रवृत्ति है कि इसमें निरन्तरता बनी रहती है। अगर हम सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य में प्रेम की अभिव्यक्ति का अवलोकन करें तो देखने को मिलता है कि समय के साथ प्रेम के स्वरूप और प्रेमाभिव्यक्ति में परिवर्तन आया है। हमारे जीवन मूल्य बदले हैं। इसी का परिणाम है कि वर्तमान साहित्यिक जगत में प्रेम, त्याग और बलिदान को अव्यावहारिक और अनावश्यक पीड़ा समझा जाने लगा है।

नामवर सिंह ने अपनी डायरी 'पन्नों पर कुछ दिन' में प्रेम संबंधी विचार व्यक्त किए हैं। प्रेमरत जोड़े को देखकर इनके हृदय में प्रेम पुलकित होता है। अपनी कक्षा 9वीं की मधुर स्मृतियों को याद करके प्रेममय हो जाते हैं। प्रेम की स्मृति कितनी मधुर और कोमल होती है कि जब भी आती है हृदय में मनुष्यता का संचार बढ़ा देती है। मनुष्य प्रेम में ही ज्यादा वास्तविक है। प्रेमी को दूसरे के प्रेम को भी देखकर एक अलौकिक आनंद प्राप्त होता है। यही कारण है कि नामवर सिंह अपनी गत प्रेम की स्मृति में पुलकित हो जाते हैं। बकौल नामवर सिंह ''मैं अपने गत प्यार वाले भयंकर युग के परावर्तन की कल्पना कर काँप उठा। सचमुच प्यार अंधा होने के साथ मूर्ख अथवा अबोध होता है या इंद्रियहीन होता है।''[3] हालाँकि यह बचपन के प्रेम की स्मृति है। बचपन के प्रेम में अतिशय भावुकता होती है। इसीलिए नामवर सिंह उसे अंधा होने के साथ-साथ मूर्ख और अबोध भी कहते हैं। प्रौढ़ अवस्था में प्रेम को लेकर धारणा बदल गई थी। उनका मानना था कि ''प्रेम का मूल तत्व है सेक्स की पवित्र भावना। आदर्शवादी लोग भले प्रेम को बिल्कुल Abstract हौवा बनाए रखें और ऐसा बनाएँ जो खुद आदर्श ही आदर्श रहकर यथार्थ न बन सके।''[4]

मोहन राकेश भी 'emotion' की सही परिणति शारीरिक उपलब्धि में ही बताते हैं। प्रेम एक आंतरिक अनुभूति है। यह अनुभूति ही शारीरिक उपलब्धि में फलित होती है। नामवर सिंह जिस प्रेम को यथार्थ की भूमि पर फलित होने की आकांक्षा रखते हैं, वह सामाजिक नैतिकता और वर्जनाओं का शिकार है। जिस तरह से प्रेम एक सहज अनुभूति है,

उसी तरह सेक्स भी सहज और अनिवार्य क्रिया है। इसे समाज हौवा क्यों समझता है? लेकिन आज भी रूढ़िवादी

खेमे के लिए प्रेम के पवित्रता की शर्त इंद्रिय निग्रह है। 1945 के भारतीय समाज में इस तरह की सोच अपने आप में एक क्रांतिकारी कदम है। इस सोच के पीछे नामवर सिंह प्रगतिशील चिंतन की बुनियाद है। प्रेम का भारतीय सभ्यता-संस्कृति में एक पूजनीय स्थान है। हमारे यहाँ एक समय में काम की भी पूजा की जाती थी- जिसके उपलक्ष्य में 'मदनोत्सव' जैसा पर्व भी मनाया जाता था। प्रेम और काम के स्वरूप में परिवर्तन बाद के दिनों में होना शुरू हुआ। इसका प्रमुख कारण 'विक्टोरियन युग की नैतिकता' है। औपनिवेशिक शासन में हम सिर्फ भौगोलिक रूप से ही परतंत्र नहीं थे, हमारी सोच-चिंतन भी औपनिवेशिक मानसिकता के अनुसार संचालित हो रही थी। जिसका प्रभाव हमारी सभ्यता-संस्कृति पर भी पड़ा। आज भी स्थिति में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ है।

प्रेम हमारी अनुभूतियों में मनुष्यता की संवेदना को जिंदा रखने का कार्य करता है। यही कारण है कि साहित्य में प्रेम और श्रृंगार हमेशा से सृजित होता रहा है। हम कुछ क्षण के लिए अपनी मूल प्रवृत्ति से पृथक भले हो सकते हैं। लेकिन हमारी मनुष्यता अपनी मूल रूप से ज्यादा दिन तक अलग नहीं रह सकती है। डायरी लेखन में अनेक तरह के विचार और टिप्पणी व्यक्त हैं। लेकिन प्रत्येक डायरी लेखक ने प्रेम और श्रृंगार संबंधी अपनी अभिव्यक्ति दी है। मलयज की सभी डायरियों में प्रेमाभिव्यक्ति है। जिसमें उनका स्वयं का जीवन प्रतिबिंबित होता है। इनका जीवन काफी संघर्ष और पीड़ा में व्यतीत हुआ। इन्होंने अपने दुर्दिन समय में भी श्रृंगार और प्रेमानुभूति को अपने चिंतन के केंद्र में रखा। क्योंकि प्रेम ही ऐसी अनुभूति है जो हमें कुछ समय के लिए सारी परेशानियों से पृथक कर सकती है। 16 जून, 1954 की डायरी में लिखते हैं प्रेम और प्रकृति की तुलना करते हुए प्रेम का बहुत मार्मिक वर्णन करते हैं। ''प्रकृति में दुबारा बहार आती है और उसका खोया उत्साह, प्रेम और आशा फिर लौट आती है लेकिन मनुष्य जीवन में ऐसा नहीं होता है। शीशा जो एक बार टूटा तो फिर नहीं जुड़ता। शायद प्रकृति और मानव में यही अंतर है।''[5] यह कोई अनिवार्य शर्त नहीं है कि एक बार प्रेम टूट जाए तो फिर से जुड़ नहीं सकता। यह प्रेम को देखने समझने का एक अहंवादी नजरिया है। प्रेम निर्वाह में हमारी मानसिकता की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। मानसिकता की निर्मिति सामाजिक संरचना पर निर्भर करती है। यह समय और समाज सापेक्ष मूल्य है। यही कारण है कि प्रेम को लेकर हर जगह एक जैसी मान्यताएं नहीं हो सकती हैं। यह भी बहुत हद तक हमारी मानसिकता और सामाजिकता पर निर्भर करता है। जब प्रेम में अहं मुखरित होता है, तभी यह संभव होता है कि व्यक्ति अपने रिश्ते को वापस नहीं प्राप्त कर पाता है। प्रेम में अहं को जागृत नहीं उपशमित करना होता है। मलयज 16 अप्रैल, 1964 की डायरी में प्रेम संबंधी प्रगतिशील विचार प्रस्तुत करते हैं। दरसल, प्रेम करते वक्त हम यह भूल जाते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति की अलग-अलग सत्ता और इयत्ता होती है। इन दोनों तत्वों को स्वीकार करके ही प्रेम की बुनियाद को मजबूत बनाया जा सकता है। ''प्यार के लिए दो क्षितिज चाहिए, दो आकाश, दो धरती अलग-अलग, विपरीत भिन्न-भिन्न। प्यार दो तत्वों की परस्पर पहचान है, पूरी पहचानय एक का दूसरे पर लदना नहीं।''[6] जब व्यक्तित्व का टकराव होता है तभी प्रेम की बुनियाद कमजोर होने लगती है। अब यहाँ ध्यान देने की आवश्यकता है कि डायरी किस तरह से मनुष्य स्वभावगत विकास का लेखा-जोखा रखती है। जो साहित्यकार 1954 में प्रेम को लेकर एक अहंवादी नजरिया पेश करता है, वही 1964 में स्वतंत्र व्यक्तित्व इयत्ता की वकालत करता है। प्रेम करने का अर्थ यह नहीं होता है कि एक दूसरे के व्यक्तित्व को विलीन करके साथ रहा जाए बल्कि वास्तविक प्रेम वह होता है जो एक दूसरे के व्यक्तित्व की रक्षा करते हुए आगे बढ़े। मलयज प्रेम के मामले में एक लोकतांत्रिक विचार करते हैं जो प्रत्येक पीढ़ी और समय के लिए प्रासंगिक है। साहित्यकार अपनी दृष्टि के साथ दुनिया की रहनुमाई करता है। हम अपने को आधुनिक युग की दुनिया का नागरिक मानने में गर्व करते हैं। लेकिन आधुनिक चेतना का संस्कार हमारे भीतर प्रवेश नहीं कर पाया है।

अज्ञेय प्रेम को ही ईश्वर की संज्ञा देते हैं। ''प्रेम तो इस और उस दो मानव इकाइयों के बीच नहीं, यह तो ईश्वर के एक अंश और ईश्वर के एक दूसरे अंश के बीच का आकर्षण है, जिसकी ये दोनों मानव इकाइयाँ मनो साक्षी भर-हैं ....ईश्वर के साक्षात्कार से कुछ कम थोड़े ही है उसके दो अंशों के मिलन का साक्षात्कार''[7] प्रेम हमें उच्च भाव भूमि पर ले जाता है। ईश्वर क्या हैं? उनके भीतर वे सारे उच्च आदर्श विद्यमान होते हैं जो एक सामान्य मनुष्य के भीतर नहीं होते हैं। प्रेम हमें उसी उच्चता का एहसास कराता है। प्रेम संबंधी अज्ञेय का यह विचार भारतीय संस्कृति से प्रभावित है। जहाँ प्रेम की

प्रतिष्ठा ईश्वर के रूप में है। प्रेम लोकोत्तर और अनिर्वचनीय भी है। इसलिए यह उतना ही महान है जितना-ईश्वर। बकौल रसखान- 'प्रेम हरी को रूप है, त्यों हरी प्रेमसरूप। एक होई द्वै यों लसैं, ज्यौं सूरज और धूप॥' दिनकर के यहाँ प्रेम का स्वरूप थोड़ा खुला है। इनके यहाँ प्रेम का त्रासद अंत की महान् प्रेम की श्रेणी में आता है। ये कहते हैं कि ''सुखी प्रेम का इतिहास नहीं होता। प्रेम का इतिहास रोमांस का इतिहास है और रोमांस तब जन्म लेता है, जब प्रेम में बाधा पड़ती है, रुकावट आती है, विशेषत: तब, जब प्रेम दुखांत होता है।''[8] रामधारी सिंह दिनकर के यहाँ भी यह दृष्टि भारतीय परंपरा से ही विकसित हुई है। कृष्ण को भारतीय सभ्यता में प्रेम के भगवान् के रूप में पूजा जाता है। राधा-कृष्ण का प्रेम पूर्णता को प्राप्त नहीं होता है। लेकिन आज भी इन्हें प्रेम के प्रतीक के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त है। ऐसा नहीं है कि दिनकर जी कोई नई मान्यता की स्थापना किए हैं। हमारे यहाँ रोमांस को कभी हेय दृष्टि से नहीं देखा जाता था। यहाँ तक कि भारतीय मंदिरों की दीवारों और परिसर में भी रोमानी चित्रकारियाँ उकेरी गई हैं। भारतीय लोक कथाओं में भी इस तरह की त्रासद प्रेम कहानियाँ देखने को मिलती हैं। मसलन-हीर-राँझा, सोहनी माहीवाल, पद्मावत इत्यादि।

कृष्ण बलदेव वैद के साहित्य में स्त्री, सौन्दर्य और प्रेम का अनेक रूप देखने को मिलता है। उनका मानना है कि ''तनहाई एक नेमत भी है, नहूसत भी। प्यार तनहाई को गहराई देता है, उस गहराई को कम भी करता है। कामयाब प्यार सतहियत को को जन्म देता है। नाकाम प्यार अँधेरे को और उसकी खूबसूरती को।''[9] इनकी चारों डायरियों में प्रेम संबंधी यही महत्वपूर्ण अवधारणा है। इनके प्रेम का वही मूल्य उच्च है जिस प्रेम में आजीवन भर का साहचर्य संभव नहीं है। दरअसल, हमेशा से प्रेम को लेकर दो विभाजन समाज में रहा है। हमारी प्राचीन भारतीय परंपरा में प्रेम और काम को हेय दृष्टि से नहीं देखा जाता था। बाद के दिनों प्रेम को लेकर सामाजिक नैतिकता हावी हो गई और शरीर के स्थान पर आत्मिक और वायवीय प्रेम का महिमामंडन किया जाने लगा। पश्चिम में भी यही स्थिति रही। शारीरिक सत्य को स्वीकारना आज भी सर्वमान्य नहीं है। प्रेम संबंधी जो मान्यताएँ डायरियों में मिलीं, उनमें से मोहन राकेश को छोड़कर किसी भी डायरी लेखक ने प्रेम के शारीरिक पक्ष की सत्यता को स्वीकार नहीं किया है। यही वायवीयता सूफियों के यहाँ भी देखने को मिलती है। वहाँ भी प्रेम के त्रासद पक्ष को ही ग्लोरीफाई किया गया है। लेकिन अब ये मान्यताएँ टूट रही हैं। इस समय सामाजिक संपर्क के साधन विकसित हुए हैं और प्रेम संबंधी शुद्धतावादी दृष्टिकोण टूट रहे हैं।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. वर्मा, निर्मल, धुन्ध से उठती धुन, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2018, पृष्ठ 189
2. वही, पृष्ठ 189
3. सिंह, नामवर, पन्नों पर कुछ दिन, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2021, पृष्ठ 23
4. वही, पृष्ठ 35
5. सिंह, नामवर, मलयज की डायरी-1, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2015, पृष्ठ 155
6. वही, 305
7. अज्ञेय, शाश्वती, अज्ञेय रचनावली (खंड-09), (संपादक- कृष्णदत्त पालीवाल), भारतीय ज्ञानपीठ, संस्करण 2012रू 304
8. दिनकर, रामधारी सिंह, दिनकर की डायरी, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण 2019रू 93
9. वैद, कृष्ण बलदेव, शम'अ हयर रंग में, राजकमल प्रकाशन, संस्करण 2007रू 183

राम भवन यादव

भारतीय भाषा केंद्र

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय

नई दिल्ली- 110067

Email : rbroshan4u@gmail.com

जँतसार के गीतों में स्त्री संवेदना

– डॉ. अरविन्द कुमार सम्बल

भारतीय वाङ्मय में लोक गीतों का बहुत विस्तृत दायरा है। इन लोक गीतों में तमाम संदर्भों के साथ संवाद चलता रहता है। लोक गीतों के बारे में यह धारणा है कि वह लोक जीवन का अभिन्न हिस्सा है और साथ ही लोक गीतों का निवास लोगों की जिह्वा है। लोक गीतों में शास्त्रीयता का निषेध है तथा कृत्रिमता की कोई जगह नहीं है। लोक गीतों के भीतर स्वाभाविकता की अभिव्यक्ति होती है। इस संदर्भ में डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय लिखते हैं—

''लोक गीतों का लिखित गीतों से पार्थक्य नितान्त स्पष्ट है। लिखित गीत किसी व्यक्ति-विशेष के द्वारा किसी अवसर को लक्ष्य में रखकर निर्मित हुए हैं तथा रचयिता के मस्तिष्क की उपज होने से व्यक्तिगत भावों का दिग्दर्शन कराते हैं। परन्तु लोक गीतों की गति विधि दूसरे ढंग की है। न तो वे लिपिबद्ध होते हैं और न ही उनके रचयिता का ही पता होता है। स्त्री पुरुषों की जिह्वा ही उनकी आवास स्थली है। कृत्रिमता उनमें छू कर भी न मिलेगी। उनमें मिलेगी सरलता और स्वाभाविकता। जिन भावों में तनिक भी बनावटीपन नहीं है और जो मानव प्रकृति के साथ जन्मत सम्बद्ध है उन्हीं भावों का प्रकाश हमें इन गीतों में मिलता है। उनमें एक विचित्र मिठास मिलती है, वैयक्तिकता के स्थान पर उनमें सार्वजनीनता विद्यमान रहती है।''[1]

डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय, लोक साहित्य के बहुत गंभीर अध्येता संकलनकर्त्ता, सम्पादक और मर्मज्ञ विद्वान् थे। उन्होंने अपना समूचा जीवन लोक साहित्य के अध्ययन अध्यापन और अनुसंधान में खपा दिया। उनके अनुसार लोक साहित्य को बाइपास करके हम सही अर्थों में भारत और भारतीयता को नहीं समझ सकते पूर्णरूप से।

लोक गीतों की भारतीय परम्परा भी रही है और पाश्चात्य परम्परा भी रही है। कृष्णदेव उपाध्याय के अनुसार-

''पाश्चात्य जगत् में भी लोक गीतों का व्यापक प्रभाव है। वहाँ विद्वानों ने बड़े अध्यवसाय के साथ लोक गीतों की गहरी खोज कर उनका सूक्ष्म अध्ययन किया है। लोक गीतों को अंग्रेजी में बैलेड ओर जर्मन भाषा में 'फोल्क्सलीदर' कहते हैं। जर्मन शब्द फोल्क्सलीदर का अक्षरशः अनुवाद है-लोक गीत जिसे किसी लोक मंडली ने लोगों के लिए तैयार किया हो।''[2] लोक गीतों की वैश्विक जमीन है। पूरब से लेकर पश्चिम तक इसका फैलाव है। लोक गीतों के माध्यम से किसी भी समाज और जनजीवन की जीवटता का पता चलता हैं इसलिए लोक गीत हर समय आवश्यक और प्रासंगिक प्रतीत होते हैं। लोक गीतों के भीतर से जन संस्कृति का स्वर सुना जा सकता है। जीवन और जमीन की पीड़ा, संघर्ष और सपने का सीधा अभिव्यक्ति लोक गीतों में मौजूद है। लेकिन इधर बीच सबसे परेशान करने वाली स्थिति उत्पन्न हुई है वह यह कि आधुनिकता, औद्योगिकता और तकनीक के प्रचार-प्रसार के कारण लोक-साहित्य, लोक संस्कृति और लोक कला तथा लोक गीतों की उपेक्षा हुई है। समय के साथ संवाद और संस्कृति के साथ साक्षात्कार लोक गीतों में निहित है। यही इसकी सबसे बड़ी शक्ति है। इसलिए हमें लोक गीतों का सत्कार और संरक्षण करना चाहिए। यह अपने आप में कितना महत्त्वपूर्ण है कि लोक गीत हमारे हर पग पर मौजूद हैं। लेकिन इधर बीच हमारे जीवन में बहुत सारी चीजें बदली हैं, घरेलू जीवन और कृषि जीवन में परिवर्तन हुए हैं। दरअसल बहुत सारी चीजें और जगहें गायब हो गयी हैं। उसका परिणाम यह हुआ कि जँतसार, पनघट जैसी जगहें जहाँ गायब हुईं वहीं उससे जुड़े गीत भी गायब होने लगे। विवाह और विदाई के गीत भी कम हुए हैं। अब चिंता इस बात को लेकर होती है कि हमारी पीढ़ी और हमारे बाद की पीढ़ी को पता भी नहीं होगा कि हमारे पास कितने तरह के गीत-संगीत और लोक साहित्य की पूंजी थी ? उत्तर आधुनिक समय की चुनौतियों में इन गीतों का संरक्षण कैसे किया जाये, चिंता का विषय बना हुआ है। मेरे

लिए यह समझना बहुत कठिन है कि लोक गीतों के बिना लोक उत्सव कैसे मनाए जा सकेंगे? फिर भी एक भरोसा बना हुआ है कि चीजें बनी रहेंगी ठीक वैसे ही जैसी धरती, धूप, आकाश, सूरज, चाँद प्रकाश, शीत और घाम बने रहेंगे। इसी आश्वस्ति के साथ हम आगे बढ़ते हैं। लोक गीतों का विस्तृत लोक है, इसे बिना वर्गीकरण के नहीं पढ़ा-लिखा जा सकता है अकादमिक जगत् में। डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय ने निम्नांकित छः श्रेणियों में विभक्त किया है लोक गीतों को—

1. संस्कार सम्बन्धी गीत
2. ऋतु सम्बन्धी गीत
3. व्रत सम्बन्धी गीत
4. जाति सम्बन्धी गीत
5. श्रम सम्बन्धी गीत
6. विविध गीत[3]

इन्हीं में लोक गीत फैले हुए हैं। हमने इस आलेख में श्रम सम्बन्धी गीतों का आधार बनाकर लिखने का प्रयास किया है। डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय श्रम गीतों के संदर्भ में लिखते हैं—

''श्रम-गीत उन गानों को कहते हैं जो किसी कार्य को सम्पादित करते समय गाये जाते हैं। ऐसा देखा जाता है कि मजदूरी का पेशा करने वाले लोग अपनी शारीरिक थकावट को दूर करने के लिए किसी काम को करते समय गाना भी गाते हैं। इससे उस कार्य को करने में मन लगा रहता है और परिश्रम का पता भी नहीं चलता। इस प्रकार के गीतों में जंतसार, रोपनी, सोहनी और कटनी आदि के गीत आते हैं।''[4]

इन गीतों के भीतर जीवन के संघर्ष और उल्लास के स्वर एक साथ सुनाई पड़ते हैं। डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय जँतसार गीतों के बारे में लिखते हैं—

जाँत को पीसते समय जो गीत गाये जाते हैं उन्हें 'जँतसार' कहा जाता है जो 'यन्त्रशाला' का अपभ्रंश रूप ज्ञात होता है। जाँत के गीतों में करुण रस का अपार पारावार तरंगित दृष्टिगोचर होता है। इन गीतों में कहीं तो दुःखिनी विधवा स्त्री का करुण क्रन्दन सुनने को मिलता है। तो कहीं किसी बन्ध्या स्त्री की मनोवेदना अभिव्यंजित होती है। कहीं किसी विरहिणी स्त्री की वियोग व्यथा का वर्णन है तो कहीं सास के द्वारा वधू को दी गई नारकीय यंत्रणा का चित्रण। करुण रस के जितने भी मार्मिक प्रसंग हो सकते हैं प्रायः उन सभी की अवतारणा इन गीतों में हुई है। पुत्रहीन विधवा स्त्री की मनोव्यथा का वर्णन जाँतसार के अनेक गीतों में उपलब्ध होता है जो पाषाण हृदय को भी पिघला देने की शक्ति रखता है। इस प्रकार जाँत के गीत बड़े ही कारुणिक, मनमोहक तथा हृदय-द्रावक हैं।''[5]

इस तरह लोक गीतों में जँतसार के गीत संवेदना और संघर्ष की अभिव्यक्ति करने में सक्षम और सफल भी है। कई बार एक भ्रम की स्थिति उत्पन्न होती है कि इसे क्या कहा जाये जँतसार या जाँतसार? इस संदर्भ में जँतसार गीतों के अध्येता डॉ. रामनारायण तिवारी लिखते हैं—

''हिंदी में या कुछ अन्य भोजपुरी क्षेत्र में 'जाँतसार' शब्द को जँतसार कहा जाता है जो शुद्ध भी है लेकिन अधिकतर भोजपुरी भाषी इसको जाँतसार भी कहते हैं।''[6]

एक तरह यह प्रश्न उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है कि उसे जँतसार कहा जाता है या जाँतसार फिर भी एक शोधकर्ता के लिए यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण तो है ही। जँतसार हमारे घरों के भीतर का वह हिस्सा है जहाँ दो महिलाएँ एक साथ बैठकर जाँत खींचती हैं और गेहूँ पीसते हुए अपने सुख-दुख, संघर्ष-अंतर्द्वंद्व को गीत के रूप में गाती हैं वह भी एकान्त या सन्नाटा बुनते समय में। देर रात में या दुपहरिया में। शायद नयी पीढ़ी और आज की पीढ़ी इसे समझ पाये। जँतसार में हमारे लोक गीतों का विपुल संसार छुपा है। इन गीतों में यह देखा जा सकता है हमारे समाज की स्त्रियाँ कितनी कठिन और विषम स्थितियों में जीते हुए उनसे मुक्ति पाने का प्रयत्न करती हैं। आज के नारीवादी विमर्श के समय में जँतसार के गीतों में बहुत सारे नारीवादी प्रश्न मौजूद हैं। जँतसार के गीतों में भारतीय नारियों की जीवटता का पता चलता है।

भारतीय समाज की जटिलताओं और पितृसत्तात्मक व्यवस्था की विषमताओं से पश्चिमी नारीवादी, विचारधारा मुक्ति नहीं दिला सकती है। इसके लिए हमें अपनी भारतीय विचारधारा को एक बार देखना चाहिए जिसकी निर्मिति लोक गीतों और शात्रों से होती है। अति आधुनिकतावाद की वजह से हम प्रायः इसकी उपेक्षा करके आगे बढ़कर पश्चिमी नारीवादी वैचारिकी की ओर मुड़ जाते हैं। यहीं हमसे एक तरह की चूक हो जाती है। इसलिए मेरा आग्रह है कि विमर्शों में भारतीय वैचारिकी को ध्यान में रखकर मुक्ति का नया पाठ तैयार करना चाहिए। उस नये पाठ को तैयार करने में जँतसार गीतों की बड़ी भूमिका हो सकती है। लोक गीतों की परम्परा में

जँतसार गीतों की शुरुआत भी सुमिरन से होती है जिसमें भगवान शिव से प्रार्थना करती हुई एक स्त्री भगवान शिव से जाँत पिसने की शक्ति के लिए प्रार्थना करती है—

ए राम करऽ जोरी मनाइला सीव ऽ जी के
जे जांघ लेई जाँगरिया देसु हो राम
ए राम लागी जासु जाँतावा सितऽबिया तऽ
देहिया निरोग ऽ राखसु हो राम।
ए राम सेहो देहिया बइठसु जाँतऽसरिया
तऽ जाँतवा हिलाई पिससु हो राम।
ए राम जुआवा से जोन्हिया होखो लागुन
पसेरी भरि गहुंआ पिसी हो राम।
ए राम ताही गहुंआ खइहें मोरी सासु
तऽ ससुर ऽ देवरवा खइहे हो राम।
ए राम उहे मोरा खइहें रसरोटिया तऽ
हम परथनिया खाइबि हो राम।
ए राम झुमि-झुमि गाइबि जतसरिया तऽ
वेदनिया होइहे धुमिल हो राम।[7]

लोक में सुमिरन की परम्परा मौजूद है। सुमिरन का माने होता है इष्ट देवताओं के आशीर्वाद से कार्य की सम्पन्नता का आग्रह करना। इस निमित्त अनुनय विनय करना। लोक जीवन में आस्था का आग्रह रहता है, कार्य छोटा हो या बड़ा बिना ईश्वर की अनुकम्पा से पूर्ण नहीं हो सकता ऐसी मान्यता है। हम ईश्वर में ही शक्ति के लिए प्रार्थना करते हैं और फिर कोई विसंगति होती है, उस स्थिति में उनसे ही अपनी पीड़ा परेशानी सुनाते भी हैं। मुझे ऐसा प्रतीत होता है सुमिरन में ही उस गीत परम्परा ओर लोक जीवन का बीजतत्व मौजूद रहता है। उसमें ही उसका सामाजिक-सांस्कृतिक पक्ष निहित रहता है। यदि देखा जाये तो सुमिरन में ही जँतसार का सारा संदर्भ मिल जाता है। जँतसार के गीतों में हमारे समाज की कड़वी सच्चाइयों की अभिव्यक्ति होती है। हमारे समाज की आन्तरिक सच्चाइयों बार-बार मुखर हो उठती हैं। यदि थोड़ा ठहर कर इन गीतों की मार्मिकता को महसूस किया जाये तो पता चलेगा कि ऊपर से हम और हमारी दुनिया जितनी अच्छी और सच्ची दिखती है उतनी है नहीं। आधुनिक होता हुआ समाज अभी भी दो पाटों के बीच फँसा हुआ है और सही अर्थों में शक्तिहीन श्रमजीवी, अधीन व्यक्ति-नैतिकता और सामाजिकता के दबाव और लोगों की कुटिलता के कारण अपने हिस्से की खुशी और आवश्यकताओं से वंचित रह जाता है। शायद इस ओर लोगों का ध्यान बहुत कम गया है। हमने पश्चिमी नजरिया से सामाजिक संदर्भों को देखा है जबकि हमारी जमीनी सच्चाई कुछ और ही है। इन सारी चीजों को जानने-समझने के लिए लोक गीतों, लोक कथाओं और लोक कलाओं की ओर मुड़ना चाहिए। मुझे यह बात हमेशा परेशान करती है कि हम लोक साहित्य से विमुख क्यों होते चले गए? जबकि लोक साहित्य के भीतर हमारे समय के लगभग सारे प्रश्नों का उत्तर मौजूद हैं। स्त्री प्रश्नों पर विचार करते समय हमें जँतसार के गीतों को आधार बनाना चाहिए। एक स्त्री सुमिरन करते हुए लोक कल्याण के अभीष्ट देवता भगवान शिव से विनती करती है कि हमें जाँगर दे कि हम जाँत खींच सकें। जाँत से पूरी गृहस्थी का सम्बन्ध है वह इसी सुमिरन गीत में कहती है कि इतनी जाँगर दो कि हम पसेरी भर गेहूँ पीस कर पूरे परिवार का पेट पाल सकें। इस व्यष्टिवादी समय में समष्टि की चिंता इस गीत में सुनाई पड़ती है। यह भारतीय स्त्री है जो सबको साथ लेकर चलना जानती है। यह भारतीय स्त्रियों का शुक्ल पक्ष है लेकिन इसी गीत में भारतीय समाज का वह यथार्थ भी आता है जब वह यह कहती है कि—

पसेरी भर गहुँआ पिसी हो राम।
ए राम ताही गहुँआ खइहे मोरी सासु
तऽ ससुर ऽ देवरवा खइहें हो राम।
एम राम ऊहे मोरा खइहें रस ऽ रोटिया तऽ
हम परथनिया खाइबि हो राम।[8]

यह है भारतीय समाज का श्याम पक्ष जहाँ उसी स्त्री को परथन की रोटी मिलती है। इसमें भी उसको संतोष भाव है किन्तु वह अपनी मर्म भरी पीड़ा को अभिव्यक्त तो कर ही देती है। लेकिन हमारा समाज इस पीड़ा को सदा से अनसुना करता आया है। जँतसार का गीत गाने वाली वह स्त्री यहाँ तब कह देती है—

ए राम झुमि झुमि गाइबि जतसरिया तऽ
वेदनिया होइहें धुमिल हो राम।[9]

लोक की स्त्री के लिए जँतसार केवल एक गीत ही नहीं है बल्कि वह मुक्ति राग भी है तभी वह कहती है हम झुम झुम कर जँतसार गीत गायेंगी जिससे हमारी वेदना कम होगी। यह है जँतसार गीतों की मार्मिकता। यह जानकर आश्चर्य होगा कि जँतसार का समय दिन का दुपहरिया होता है या आधी रात के बाद का होता है। जब सारी दुनिया सो रही होती है या आराम की नींद ले रही

होती है वैसी स्थिति में हमारे परिवार-समाज की स्त्रियाँ हमारी रोटी के इंतजाम में लगी होती हैं और गेहूँ पिसते-पिसते अपने जीवन के संघर्षों को और सपनों को गाकर अनसुना करने वाले लोगों को सुनाती हैं। स्त्रियाँ सही अर्थों में हमारे लिए सम्बल होती हैं लेकिन सम्बल देने वाली स्त्रियों को हमारी पितृसत्तात्मक व्यवस्था ने अधीन बना दिया। उसकी शक्ति को उसकी कमजोरी बना दिया। स्त्री पुरुष की साथी होना चाहती है और पुरुष स्त्री को साथी की जगह पर उसका मालिक बनने का व्यूह रचता है। यह समस्या प्राचीन समय में भी थी और कुछ अर्थों में आज भी बनी हुई दिखायी देती है। इसमें एक चीज और भी जुड़ जाती है जिससे स्थिति और जटिल हो जाती है। पितृसत्ता अपनी चीजों को आगे बढ़ाने के लिए स्त्रियों को ही माध्यम बनाती है। उसका परिणाम यह होता है कि स्त्री ही स्त्री का प्रतिपक्ष बनकर खड़ी हो जाती है। हाशिए पर खड़ी स्त्रियों को पितृसत्ता की इस षड्यंत्रकारी राजनीति को समझना चाहिए।

सत्ताएँ अपने वर्चस्व को बनाए रखने के लिए अधीनस्थों को बाँटने का काम करती हैं। स्त्रियों पर भी यह बात लागू होती है। घर-परिवार के भीतर स्त्रियों का यह विभाजित रूप साफ-साफ दिखाई पड़ता है और परिणाम यह होता है घर के भीतर स्त्रियाँ एक साथ समान धर्म होते हुए भी एक स्थिति में नहीं रह पाती हैं और स्त्रियों के ऊपर स्त्रियाँ ही शासन करते और यातना देते हुए दिखायी देती हैं हम चाहें जितना प्रसन्न हो जायें किंतु मुझे ऐसा लगता है कि अभी भी घरेलू हिंसा, यौन हिंसा, सहित बहुत तरह की चीजें बनी हुई हैं। शिक्षित, सम्पन्न और आधुनिक समाज के भीतर भी स्त्रियाँ आश्वस्त नहीं है। वे निर्भय होकर नहीं जी रही हैं। घरों के भीतर अभी भी मध्यकालीनता की संस्कृति और पुरातन रुढ़ियाँ जीवित हैं। पितृसत्ता स्त्री की स्वतंत्रता, स्वाभिमान स्वायत्तता को बाधित करती है। शायद यही वजह है कि बहुत हद तक स्त्रियों का एक तबका पितृसत्ता से लड़ने की जगह उनके साथ समझौता करके अपने ही समानधर्मा स्त्रियों पर शासन करके प्रसन्नता का अनुभव करती है। क्या अजीब नहीं लगता है कि शासित ही फिर शासन का सुखद आनंद लेने लगता है। इससे बड़ी विडम्बना और क्या हो सकती है? जिस पितृसत्ता और पुरुष स्वर को मुखर करने का काम स्त्रियाँ करती हैं वही पितृसत्ता एक समय के बाद उन्हीं स्त्रियों पर जहाँ नशृंस हमला करती है तब उनके पास कहने-सुनने के लिए कुछ भी नहीं बच पाता है। बल्कि वो तो अपने समय की विलेन बन जाती हैं। यदि हम अवकाश निकाल कर जँतसार गीतों को सुनें और उसकी मार्मिकता पर विचार करें तो पायेंगे कि जिन प्रश्नों और प्रसंगों की चिंता में हमारे समय का 'नारीवादी' परेशान नजर आ रहा है ये प्रश्न तो जँतसार के गीतों में घुमा-घुमाकर गाया जाता है।

जँतसार के गीतों पर ध्यान दिया जाये तो ये स्त्री मुक्ति का भारतीय पाठ तैयार कर सकता है।

भारतीय सामाजिक जीवन की अपनी बहुत सारी परेशानियाँ हैं। उन परेशानियों के पीछे उसकी जटिलता है। थोड़ा विषयांतरित होकर मैं देखता हूँ कि हम कायदे से 18वीं शताबदी से पहले बाहरी दुनिया के सम्पर्क में इस तरह नहीं गए जैसे जाना चाहिए। मुसलमानों के साथ हमारी थोड़ी बहुत समझदारी और साझेदारी बढ़ी किन्तु इससे बहुत फर्क नहीं पड़ा क्योंकि शिक्षा को लेकर उनके यहाँ भी चीजें बहुत परम्परावादी न रहीं विशेषकर स्त्री शिक्षा को लेकर। लेकिन यूरोप में 16वीं सदी के आसपास शिक्षा का प्रश्न बड़ा प्रश्न बनकर उभरा। यही कारण है कि यूरोपिय समाज की स्त्रियाँ शिक्षित होकर आर्थिक अवसरों को प्राप्त कर राजनीतिक हस्तक्षेप भी करते हुए दिखायी देती हैं और तीसरी दुनिया के देशों की स्त्रियों के लिए प्रेरणास्रोत बनती हैं। इसका प्रभाव यह पड़ा कि हमारे यहाँ भी आधुनिक समय में शिक्षा का प्रश्न प्रमुख प्रश्न बना; और अब तो शिक्षा अनिवार्य बन गयी।

किन्तु जँतसार सहित तमाम लोक गीतों पर नजर डाली जाये तो यह सच आएगा कि यहाँ शिक्षा का प्रश्न गौण है। और साथ में एक और कठिनाई है वह यह कि लोक गीतों की रचना कब हुई और किसने की? कौन-सा गीत कब तैयार हुआ। इस विषय पर कोई एक निश्चित मत नहीं है। इसलिए यह संभव है जो प्रश्न आज के समय में बहुत प्रबल है उनमें से बहुत सारे प्रश्नों का उल्लेख भी जँतसार में नहीं मिलता हो। उसमें शिक्षा और नौकरी का प्रश्न मुख्य है। आज स्त्रियाँ शिक्षा भी प्राप्त कर रही हैं और नौकरी भी कर रही हैं। लेकिन शिक्षा और नौकरी के बाद स्त्रियों के एक बड़े तबके की प्राथमिकता में उसका परिवार होता है। वह एक तरफ स्वतंत्रता की ऊँची उड़ान की जगह परिवार की डोर से बंधी रहना पसंद करती हैं दूसरी ओर परिवार उनके इस त्याग को कई बार समझते हुए भी नहीं समझ पाता है और उनको परम्परावादी रुढ़िवादी

परिधि के भीतर घेर कर रखना चाहता है। वह उनके सामाजिक दायरा को भी सीमित करता है तथा उनके भीतर स्त्री की पारम्परिक छवि की तलाश भी करता है। इस तरह की चुनौतियाँ हैं आज भी हमारे समय समाज में। स्त्री अपनी आटोनामी चाहती है लेकिन पारम्परिक दृष्टिकोण यह आटोनामी नहीं देना चाहती। इसलिए देखा जाये तो उस तरह के बहुत सारे प्रश्न जो हमारी परम्परागत जिंदगी में मौजूद थे आज भी बने हुए हैं और उनसे हमारी स्त्रियाँ जूझ रही हैं। जँतसार के गीतों की आधार भूमि में ही सारे प्रश्न हैं।

भारतीय समाज में पत्नीत्व और मातृत्व का प्रश्न सदा से बना हुआ है। पत्नीत्व, मातृत्व के साथ योनि शुचिता का प्रसंग स्त्रीत्व को गढ़ता है। सामाजिकता और नैतिकता का प्रश्न भी स्त्री जीवन को बहुत हद तक प्रभावित करता है। इन प्रश्नों से कोई भी मुक्त नहीं है। हर समय और समाज के स्त्रियों को इनसे जूझना पड़ता है। इस वजह से इनकी जिंदगी तंग रहती है। इसी वजह से इन्हें मान, अपमान और मुक्ति प्राप्त होता है। यह अपने आपमें बहुत महत्त्वपूर्ण है कि जँतसार गीतों में मुख्य रूप से इन सारे पहलुओं को देखा सुना जा सकता है।

भारतीय समाज में स्त्री जब पत्नीत्व प्राप्त करती है तब उसकी अलग सम्मानजनक स्थिति बनती है और दूसरी जब मातृत्व प्राप्त करती है तब वह और मजबूत होती है फिर पति का स्नेह, सानिध्य और साथ मिलता है तब सबसे अधिक मजबूत होती है। इसमें एक क्षेपक भी आ जाता है यदि पति प्रवासी हो गया, या विमुख हो गया स्त्री संतानवती नहीं हुई या उसके चरित्र पर लांछन लग गया उस स्थिति में उसके लिए कठिन दौर आ जाता है। पारम्परिक सामाजिक व्यवस्था में स्त्री पिता पति और परिवार की परिधि में रहते हुए जीवन चक्र पूरा करती रही है। उसे उसके साथ उन धर्मों का पालन करते हुए सामंजस्य बनाना पड़ता था। वह विवाह के बाद रोटी के लिए पति पर निर्भर रहती थी इसलिए पति की बहुत बड़ी भूमिका थी उसके जीवन में। इसके लिए उसको अपने जीवन की कीमत भी चुकानी पड़ती थी। कई बार निर्वासन का दंश झेलकर तो कई बार मृत्यु द्धहत्या/आत्महत्याक्ष का वरण करके।

यहां एक प्रश्न और है कि स्त्रीत्व के बिना स्त्री का जीवन कैसा? समय के प्रभाव और प्रवाह में बहुत चीजें बदली लेकिन 'स्त्रीत्व' का मानक आज भी वही बना हुआ है। आज भी उसी के इर्द-गिर्द चीजें चल रही हैं। ऐसे में आज भी जँतसार गीतों की प्रासंगिकता बनी हुई है। और मेरा आग्रह है कि विमर्शकारों को इसकी उपेक्षा करने की जगह पर यदि जँतसार को भी स्त्री मुक्ति का 'टेक्स्ट' बनाएँ तो चीजें बहुत आसान हो जाएंगी विशेषकर भारतीय संदर्भ में।

जँतसार में एक गीत है 'अकिला देवर' जिसमें पुत्रहीन स्त्री का दु:ख यही है कि उसका पति प्रवास पर चला गया है और वह दुखी भाव से विकल होकर बाहर घूम रही है। उसकी बेचैनी और विकलता को देखकर पूछता है कि किस कारण आपकी यह दशा हुई है-

पिया मोरे गइले पुरुबवा कि-
जाँतवा बे ऽ साही भेजेले हो राम।
ए राम से हो जाँत ऽ गड़नी गाजा ओबरी
एको ना बेयरिया लागे हो राम।
ए राम रही रही मानवाँ सऽ तावे सुन गोदिया तऽ
धार ऽ बान्ही लोरवा गिरे हो राम।
ए राम घर ऽ में से आवेले लछन देवर ऽ लहुरा तऽ
काहे भऊजी नीरवा ढरे हो राम।
ए राम तोहारऽ भइया गइले पुरुबवा तऽ
जाँतावा बेसाही भेजले हो राम।
****
ए राम एक बलकअ ऽ बिनु सुन ऽ मोरा गोदिया तऽ
ओही बिनु लोरवा चुवे हो राम।[10]

इस गीत में विरहिणी स्त्री की पीड़ा देखी जा सकती है। उसका पति प्रवास पर चला गया है और उसको कोई संतान भी नहीं है। वह एकाकी है। ऐसी स्थिति में देवर अपनी भाभी से कहता है-

ए राम फाँड़ ऽ भरि लऽना भऊजी
आपन तिल ऽ चाउर
आदित ऽ मानाहु लऽना हो राम।
ए राम आदित ऽ मनवते गरभिया तऽ रहली कि
होरिला जनमऽ ले ले हो राम।
ए राम जुगे-जुगे जीवहु मोर लछन देवर
कि मोहे तू उकितिया देलऽ हो राम।[11]

भारतीय जनजीवन में स्त्री-पुरुष सम्बन्धों में एक तरह से द्वन्द्वात्मक स्थिति रही है। यह सच है कि पत्नियाँ बहुत प्रतिबद्वता के साथ दाम्पत्य का निर्वाह करती हैं उनके लिए दाम्पत्य जीवन होता है किन्तु यदि कोई भी पक्ष इसका ध्यान नहीं रखता तो चीजें असह्य हो जाती हैं।

जँतसार में कई गीत इस पर आधारित हैं जो दरकते दाम्पत्य की ओर संकेत भी करते हैं और साथ ही पत्नी के सतीत्व को अभिव्यक्त भी करते हैं। यहाँ स्त्री का सशक्त-आत्मपक्ष दिखायी देता है। इन गीतों के माध्यम से स्त्री का स्टीरियोटाइप व्यक्तित्व साफ-साफ व्यक्त होता है। सदा से चुप रहने वाली स्त्री अचानक मुखर होकर अपना पक्ष प्रस्तुत करती है। यहाँ वह धारणा भी टूटती है कि भारतीय समाज में स्त्रियाँ प्रतिरोध नहीं करती हैं और पितृसत्ता और पुरुष वर्चस्व के सामने अपना सब कुछ मिटा देती हैं। हमें पूरे संदर्भ को इस गीत के माध्यम से समझने में आसानी होगी। एक जँतसार है '**बालम बिदेसिया**'-

गहुँआ के रोटिया विदेसिया चल्हवा रे मऽ छरिया
जेऊँ ना लेहु विदेसिया, हमरो रे भोजनिया।
हम तोही से पूछी विदेसिया, दिलवा के राम बतिया,
कइसे कइसे रहलऽ विदेसिया,
हाकिम के रे नोकरिया?
दिनवा तऽ रहनी ए सुनरि, साहेब के नोकरिया
रतिया तऽ रहनी ए सुनरि, मालिन के रे सेजरिया,
हमऽतोही से पूछी ए सुनरि, दिलवा के रामऽबतिया,
कइसे-कइसे रहलु ए सुनरि, आपन ऽ नइहरावा?
दिनवा तऽ रहनी विदेसिया, सखि लोग के सांगवा
रतिया तऽ रहनी विदेसिया, माई के राम ऽ गोदिया।[12]

इसी गीत के दूसरे हिस्से में पत्नी अपने प्रवासी पति से बहुत प्यार से कठोर प्रश्न पूछते चली जाती है और अंत में वह जिस तरह का स्टैंड लेती है वह आज की सशक्त आत्मनिर्भर और आधुनिक स्त्री से अधिक कठोर निर्णय है। इससे पता चलता है कि लोक की अनपढ़ स्त्रियों के भीतर बहुत जीवटता रही है। उनका आत्मपक्ष बहुत मजबूत है।

कथि के सिन्होरवा विदेसिया, कथि के रे सेनुरवा?
कवना हाथे डलले रे विदेसिया, सिरवा के सेनुरवा?
सोने के सिन्होरवा ए सुनरि, सिरिसी ऐ सेनुरवा,
दहिना हाथ डलनी ए सुनरि, सिरवा के रे सेनुरवा,
दहिना तोरऽ चुवो विदेसिया,
देहिया लागसु राम ऽ घुनवा
तोहे पोर ऽ ए जी विदेसिया,
काहे कइले रे छालावा?[13]

भारतीय समाज में स्त्री का यह रूप एक नई स्त्री से परिचित कराता है। इन गीतों से साफ-साफ पता चलता है कि भारतीय समाज में लोक की स्त्रियाँ दाम्पत्य को बचाने के लिए कुछ भी करने के लिए सक्षम हैं। यह सबसे बड़ा सच है कि भारतीय समाज और भारतीयता की महत्त्वपूर्ण चीजों में यहाँ का दाम्पत्य सबसे अधिक महत्त्व की चीज है, और इसकी रक्षा की जिम्मेवारी दोनों पक्षों की है। जँतसार का यह गीत इसी उज्ज्वल पक्ष को अभिव्यक्त करता है। आज के समय में पूरी दुनिया में दाम्पत्य को बचाने की चिंता बढ़ती जा रही है। और यह भी सच है कि दाम्पत्य का भारतीय मॉडल शायद दुनिया का सबसे अनूठा मॉडल है। इसकी तरफ लगभग सभी खींचते चले आते हैं। एक गीत है '**पिया के बाटऽ**' उसमें कुंदन सी चमकती स्त्री मौजूद है जो अपने पति का इंतजार कर रही है और एक युवक उसे प्रलोभित करने की चेष्टा करता है। वह उसे ऐसा जवाब देती है कि देखने वाले देखते रह जायें-

गंगा जमुना बीच बाग, तऽ ताही बीचे राह लगी
ताही बीच सुनरी भइली ठाढ़ नयनवा
दूनो नीर ऽ ढरी।
घोड़वा चढ़ल एक ऽ चेलीक ऽ काहें
सुनरि नीरऽ ढरी।
केकर ऽ जोहेलू तुहूं बाट ऽ सुनरिया
नयना नीर ऽ ढरी॥
तोहरा अइसन ऽ पिया सुन्दर से हो परदेसे गइलऽ
उन्हही के जोहिले बाट ऽ सुनरिया नयना नीर ऽ ढरी
लेइना सुनरि डाल ऽ भरि सोना मोती मांग भरी,
छोड़ि दऽना ओइसनऽ गावाँर ऽ लग ऽ हो
सुनरि साथ ऽ हमें।
आगी लगइबो तोरा डाल ऽ भर ऽ सोना,
मोती जरीय जरी जाय।
जब ऽ रे लवटिहें उहे गाँवारवा,
लुटइबो तोहरी बरधी हरी॥[14]

ऐसी ही एकनिष्ठता और प्रतिबद्धता दाम्पत्य और जीवन दोनों को समृद्ध और सशक्त करती है। स्त्री के लिए चरित्र सबसे बड़ी चीज होती है। जब लगता है कि स्त्री के ऊपर किसी तरह से काबू नहीं पा सकते तो हम उसके ऊपर लांछन लगा देते हैं जिसका कोई बहुत साफ आधार नहीं होता? जँतसार में इसी तरह के कई गीत मौजूद है 'अछरंग', 'छोटही नदिया', 'पोखरा'। 'अछरंग' में एक बहू की सास उसके चरित्र पर लांछन लगाती है-

चारूही कोनवा के उमड़ल ऽ पोखरवा से,
ससुर-भसुर मारेले मछरिया ए दइया।

छिपा भरि मर ऽले कराही भरि मर ऽले से,
रान्हऽना बहुअवा मनऽलाई के ए दइया।
खेत खरिहनियाँ, से अइले कुल बोरनु से
जिनकर नाई लवली अछरंगवा ए दइया।[15]

ऐसा ही एक दूसरे तरह का जँतसार है जिसमें सास जब बहू के चरित्र पर सवाल खड़ा करती है तब बहु बहुत करारा जवाब देती है। ऐसा तभी संभव है जब आपका सत पक्ष मजबूत हो।

पोखरा

हरी मोर ऽ चलले रे उत्तरी बनिजिया से
दे ना गइलें पाँच मोहरवा ए दइया।
ओही मोहरवा ले पोखरा खनवलीं
से चुनवे चुनवटल चारु घटवा रे दइया।
ओही पर बइठि के दतुअनी कइनी,
से मिलेना बतीसो रंग ऽ दाँतवा रे दइया
बाप ऽ खाऊँ भइया खाऊँ तोरे रे बहुववा
कहावा रँगवलू लाली दाँतवा रे दइया।
जनि सासु बाबा खाहूँ जनि सासु भइया खाहू
से राउर बेटा रंगे लाली दाँतवा रे दइया॥[16]

यानि हे सासु माँ मेरे बाप भाई को खाने की बात मत कहो मेरे दाँत तो आप बेटे ने रंगे है? अर्थात् जँतसार के गीतों के भीतर से एक बात बहुत साफ निकलकर आती है कि समाज के भीतर, परिवार के भीतर स्त्रियों की स्थिति बहुत ठीक नहीं थी। एक तरफ पुरुष स्वेच्छाचार में लिप्त था दूसरी ओर उनकी पत्नियों पर लांछन प्रहार किया जाता था। यह विकट और भयावह स्थिति थी। शक-सुबहा से न जाने कितनी जिन्दगियाँ तबाह हो गयी हैं। जँतसार में इस तरह के गीतों के माध्यम से इस घातक प्रवृत्ति की सूचना मिलती है। 'ननदोई के चोली' में इस तरह की बानगी मौजूद है—

भेज ऽ ही के रहऽनी पाँच रंग मोहरिया
आरे भेजि दिहले कसऽ मसऽ चोलिया रे सजनी
चोलिया पहिरी हम सुतीले रे ओसारवा,
आरे सासु निहारे चोलिया हम ऽ रो रे सजनी।
किया तोर बहुआ रे नइहर से अइले।
आ किया चोलिया भेजे तोर इयारवा रे सजनी।[17]

फिर नायिका अपनी सास से उसके मन में आये शक को दूर करते हुए कहती है—

नाही मोर सासु रे नइहर से अइले,
नाहीं चोलिया भेजे मोर ऽ इयारवा रे सजनी।
छोटकी ननदिया के करऽबो रे गावानवा,
आरे चोलिया ले अइहें ननऽदोइया रे सजनी।[18]

अर्थात् हे सासु माँ जब आप अपनी छोटी बेटी का गवना करोगी और उसका पति उसके लिए चोली और अन्य उपहार आदि भेजेगा तब आपको अपने आप समझ में आ जाएगा।

विरहिणी स्त्री की दर्द को बयां करने वाला एक जँतसार है जिसमें प्रवासी पति को उलाहना देते हुए कहती है—

आमावा मोजरि गइले लगली रे हरी जी सरिसई
जाही हाथे लवल ऽ हरी जी, चिटुकी रे सेनुरवा।
सोने के सिन्होरवा हरी जी, लागी जइहें हरीजी घुनवा
कतऽसेनुरा पेन्हइबि ए हरी जी,
कतऽसमुझाइब हरी जी गुनवा।
सोने के पलंगिया ए हरी जी,
लागी गइले हरी जी घुनवा
सोने के मंदिलवा ए हरी जी,
लागी गइली राम ऽ घुनवा।
कत ऽ गिरिही ए हरी जी कत समुझाइबि राम गुनवा।
दुअरा पर लवल ऽ ए हरी जी, चनन ऽ केरा गछिया।
कत ऽ दुअरा देखइबि हरी जी,
कतके समुझाइबि राम गुनवा।[19]

इस गीत में पति और पत्नी की अन्ययता दिखायी पड़ती है। आजकल तो दम्पतियों का दो प्रदेशों में रहना फैशन हो गया है किन्तु भारतीय वाङ्मय में पति-पत्नी का साथ में रहना ही दाम्पत्य और जीवन की सार्थकता है।

जसगीतों का अपना विशेष दायरा है। जँतसार की स्त्रियाँ बहुत सचेत अवस्था में रहती हैं। वे नियति से लड़ती भी हैं और नियति को समझती और स्वीकारती भी हैं। 'करमऽ के रेख' में विधवा बेटी अपने पिता से संवाद करती है—

ए बाबा काहे के लवनी घनी बगिया
काहे के फुलवरिया लवनी हो राम।
तऽ काहे के गावानवा कइनी हो राम।
ए बाबा सिर ऽ मोरा जरेला सेनुर बिन,
नयना कजरवा बिनु हो राम।
ए बाबा सेज ऽ मोरा जरेला कन्हइया बिनु
गोदिया बालक ऽ बिनु हो राम।
ए बेटी! सम्पति रहीते त बटिती
विपतियां केहु ना बाटेला हो राम।

ए बाबा कासे ऽ पीतर जइ रहीते तऽ
बदली ले अइतीं हो राम,
करम ऽ कइसे बदलबि हो राम।[20]

जँतसार के गीतों में प्राय: कुल बधुएँ हैं। इन गीतों में उनकी समझदारी और सूझभरे कर्त्तव्यों को वर्णित किया गया है। वे एक सीमा तक अपने पति पर निर्भर रहती हैं। जब ऐसा लगता है तो वे अपनी सूझ और स्वावलम्बी व्यक्तित्व का भी परिचय देती है। यही भारतीय स्त्री की जीवटता है। एक गीत है **'नारी के धीरज'** उसमें वह अपने प्रवासी पति को पत्र लिखती है कि बहुत दिन हो गए आप आ जाइए। घर की स्थिति बहुत खराब है आप आकर संभालिए—

आरे हरी जी के धवलऽमंदिलवा,
मंदिल ऽ बीचे चुएला ऐ जी।
कथि के करवो कागादवा,
कथी के मसिहनिया करबो ए जी।
****
आँचर फारी के कागादवा,
नयन मसिहनिया करऽबो ए जी।[21]

वह इस तरह से संदेश भेजती है तब पति उसे समझाता है कि तुम ऐसे कर लो, वैसे कर लो और अपना घर गृहस्थी संभालो अभी मैं नहीं आ सकता। ऐसे में वह पुन: उसको जवाब भेजती है–

चनऽन के काठऽ काटाइबि बिठई गढ़ाइबि ए जी।
दसऽहीं मासे किसुना होइहे त ऽ
गोदिया खेलाइबि ए जी।
आरे रची-रची मंदिर छावइवि
नऊजी रऊरा आइबि ए जी।
चनन ऽ काठऽ कटवली त ऽ बिठई बनावेली ए जी।
आरे ताही परऽ किसन के झुलाइबि
नउजी रउरा आइबि ए जी।
आरे कृस्नऽ लिहले धीरज ऽ बान्ही
नउजी रउरा आइबि रे जी।।[22]

यानि आप मत आइए कोई बात नहीं हम सारा कुछ कर लेंगे।

हम चाहें कुछ भी कहें हमारे घरों में बहुओं पर बहुत तरह की आत्मघाती यातनाएँ की जाती रही हैं। घरेलू हिंसा ऐसी कि स्त्रियाँ आत्महत्या कर लेती हैं। जँतसार के गीतों में इस तरह की संकेत-सूचनाएं बहुत साफ-साफ सुनाई पड़ती हैं। एक गीत है 'सेर भरि गहूँ में सइ खनिहार' इसी आधार भूमि पर है। बहु को उसकी सास नाप-तौल कर गेहूँ देती है और उससे उम्मीद रखती है कि उसी में सबको खिलाकर संतुष्ट कर दे। इस गीत में पेट की समस्या है और पेट की समस्या के कारण वह आत्महत्या कर लेती है। उसे कोई बचाता भी नहीं है क्योंकि वह परायी स्त्री है। रक्षा में भी नैतिकता का प्रश्न परेशान करने वाला है। यह गीत एक बड़ा सवाल खड़ा करता है कि हमारी दृष्टि बदलेगी भी या नहीं?

सासु जोखि दिहली रे सेरऽ जोखी गहुंआँ
आई गइलें दुई गो पहुनावा ए राम।
सासु मांगे रोटिया ननदो मांगे लिटिया
आरे से हो प्रभु मांगे दिनवा बसिया ए राम।
सासु मरली उदकी ननद मरली खुदकी
आरे से हो प्रभुजी पयना के मरिया ए राम।[23]

इतनी यातना के बाद वह स्त्री सोचती है कि मायके चली जाऊँ या यमुना जी में डूब जाऊँ। लेकिन सब सोचते-सोचते आत्महत्या करने के लिए यमुना जी में जाती है तब अहीर और धोबी उसे रोकते हैं। समझाते हैं लेकिन उसके लिए तो सारे दरवाजे बन्द पड़े हैं। सब ऊपर नीचे सोचकर वह डूबने के लिए आगे बढ़ती और सबके बाद उसे परायी स्त्री जानकर वे हाथ पीछे खींच लेते हैं। वह डूबने लगती है। यह कितना बड़ा प्रश्न है वे यमुना जी के घाट पर काम करने वाले अहीर ओर धोबी कहते हैं—

आरे केकरी तिरिया जमुनावा डूबेल ए राम।
आरे से हो पुरूखवा, कइसे निनिया सोवे ऐ राम।
आरे केकरे इरिखवा जमुनवा डूबे लू ए राम।[24]

इस तरह लोक गीतों की एक समृद्ध परम्परा हमारे समाज में मौजूद है। जीवन के तमाम संदर्भों की अभिव्यक्ति इन गीतों में सुनाई पड़ती है। इसी परम्परा का एक महत्त्वपूर्ण हिस्सा है जँतसार।

'जँतसार' के गीतों में स्त्री जीवन की बहुत सारी त्रासदियाँ ध्वनित होती हैं। भारतीय समाज में परिवार के भीतर बहुत सारी परेशानियाँ होती हैं। इन गीतों के भीतर वे सारी चीजें बार-बार मुखरित होती हैं। स्त्री पराधीनता की जड़ों को इन गीतों में पाया जा सकता है।

मुझे इस बात को लेकर बहुत चिंता होती है कि हमने पता नहीं क्यों अपनी इस विशद् परम्परा को ओझल कर दिया था। शायद हम उन्हें अपनी परम्परा में ढूँढ़ते तो कुछ आशातीत फल अवश्य मिल जाते।

यह खेद का विषय है कि हमारी नयी पीढ़ी इन सबसे न सिर्फ अंजान है बल्कि इन प्रसंगों पर चौंक भी जाती है। यह सही है कि नए दौर ने नए किस्म के सवाल पैदा किए हैं किन्तु यदि इन गीतों के माध्यम से इन प्रश्नों के समाधान का प्रयास किया जाये तो सकारात्मक परिणाम प्राप्त हो सकते हैं। हमें अपनी इस धरोहर थाती को न सिर्फ समझना चाहिए बल्कि इसको सहेजते हुए समृद्ध भी करना चाहिए।

सही अर्थों में लोक गीत और जँतसार के गीत हमारे लिए शक्ति के स्रोत भी हैं और अपने समय के सवालों के समाधान की कुंजी भी है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. उपाध्याय कृष्णदेव, भोजपुरी लोक गीत, भाग-1, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, द्वितीय संस्करण-2011, पृष्ठ-9
2. वही, पृष्ठ संख्या-15
3. उपाध्याय कृष्णदेव, लोक संस्कृति की रूपरेखा, लोक भारती प्रकाशन इलाहाबाद, संस्करण-2014, पृष्ठ 266
4. वही, पृष्ठ संख्या-279
5. वही, पृष्ठ संख्या-279-280
6. तिवारी रामनारायण, भोजपुरी श्रम लोक गीतों में जँतसार-प्रतिश्रुति प्रकाशन कोलकाता, संस्करण-द्वितीय, 2013 पृष्ठ-8
7. वही, पृष्ठ संख्या-91
8. वही, पृष्ठ संख्या-91
9. वही, पृष्ठ संख्या-91
10. वही, पृष्ठ संख्या-94
11. वही, पृष्ठ संख्या-94
12. वही, पृष्ठ संख्या-98
13. वही, पृष्ठ संख्या-99
14. वही, पृष्ठ संख्या-100
15. वही, पृष्ठ संख्या-104
16. वही, पृष्ठ संख्या-105
17. वही, पृष्ठ संख्या-106
18. वही, पृष्ठ संख्या-106
19. वही, पृष्ठ संख्या-107
20. वही, पृष्ठ संख्या-109
21. वही, पृष्ठ संख्या-209
22. वही, पृष्ठ संख्या-209
23. वही, पृष्ठ संख्या-220
24. वही, पृष्ठ संख्या-220

- डॉ. अरविन्द कुमार सम्बल

सहायक प्रोफेसर, हिंदी विभाग,

हिंदू कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

समकालीन भारतीय समाज की चुनौतियाँ और कबीर का काव्य

— डॉ. राजकुमार राजन

— डॉ. सायमा इकबाल

भारतीय समाज समकालीन युग का समन्वय है। भारतीय परम्परा हमारी धरोहर है, जिसका अतीत 'विरुद्धों का सामंजस्य' है। हमारी संस्कृति की पहचान उन मूल्यों में अन्तर्निहित है, जो मूल्य अन्यों के लिए अप्रासंगिक हो गए हैं। विश्व में भारतीय सभ्यता में जितनी विविधताएँ हैं, अन्यत्र दुर्लभ है। हमारे मुल्क में विभिन्न जातियाँ, धर्म, भाषाओं की विविधता आदि फूलों का गुलदस्ता है। यहाँ बहुसंख्यक लोग गरीबी और अन्य सामाजिक बुराइयों से ग्रसित हैं लेकिन भारत का आध्यात्मिक बोध उन्हें जीवन को बेहतर जीने का सहारा देता है। भारतीय आध्यात्मिक बोध जीवन के बड़े-से-बड़े झंझावातों को सहजता से समाधान की ओर ले जाता है। भारत विविधताओं का देश है। यह विविधता भिन्न अर्थों में विभिन्न समस्याओं का समुच्चय है। आध्यात्मिकता के नाम पर संकीर्णतावाद और अंधविश्वास का जन्म जितना हमें आगे ले जाता है, उतना ही पीछे भी ढकेलता है। हमारी सभ्यता में जातिवाद से उपजी असमानता भारतीय समाज का कोढ़ है। हम लोग ऊपर-ऊपर से समान दिखते हैं लेकिन सच्चाई यह है कि अंदर से जातियों में विभक्त अपनी संस्कृति और परम्परा में बँधे रहते हैं। अतीत की घटनाओं पर यदि हम विशद् और गहन दृष्टि डालते हैं तो ऐसा सहज प्रतीत होता है कि हमारे पिछड़ेपन के कारणों में असमानताओं के कारण मौजूद हैं। जब तक हमारे समाज में समानता स्थापित नहीं होगी, तब तक हम न्यायपूर्ण सामाजिक व्यवस्था बनाने में असमर्थ रहेंगे। हमें एक समावेशी समाज की आवश्यकता है, जहाँ सबके लिए स्पेस हो, सबकी स्वतंत्रता स्थापित हो। मनुष्य के भीतर जब तक उसकी प्रकृति में असमानता का भाव रहेगा, तब तक सामाजिक समन्वय बनना असंभव है। अपने भीतर की पहचान अपने से 'आत्म साक्षात्कार' करना है। 'आत्म साक्षात्कार' अपने भीतर मन के स्तर पर अपने को पहचानने की क्षमता को विकसित करता है। इन सबके लिए मनुष्य को सत्यनिष्ठा और ईमानदारी की आवश्यकता होती है।

समकालीन भारतीय समाज की चुनौतियाँ भारतीय सभ्यता का यथार्थ बन चुका है। भारतीय सभ्यता का यथार्थ असमानता, विभिन्न कालखडों में सांप्रदायिकता, जातिवाद, संकीर्णतावाद, अंधविश्वास, रूढ़िवाद, धार्मिक पाखंड इत्यादि के रूपों में परिलक्षित होता है। हमारे समाज में आज भी ऊँच-नीच का भेदभाव है। मनुष्य के भीतर मनुष्यता की पहचान होनी चाहिए लेकिन दुर्भाग्य से ऐसा नहीं होता है। मनुष्य-मनुष्य के भीतर उच्चता का बोध असमानता की ओर हमें धक्का देता है। जब मनुष्य के भीतर उच्चता का बोध होगा तो नि:संदेह दूसरे के लिए असहज होगा। यह सब कुछ असमानता के आधार बिन्दु हैं। सांप्रदायिकता हमारे समाज के लिए एक कोढ़ के समान है। कभी-कभी सांप्रदायिकता भिन्न धर्मों के बीच होती है तो कई बार जातियों के भीतर भी श्रेष्ठता की प्रतिस्पर्धा में परिलक्षित होती है। जाहिर है, सांप्रदायिकता हमारे समाज की शांति को भंग करती है। सांप्रदायिक घटनाएँ व्यक्ति के बाह्य दबाव और आन्तरिक प्रकृति के कारण शुरू होती हैं और मानवीय क्रूरता की हद तक आगे बढ़ जाती हैं। हमारे देश में विभिन्न धर्म, जाति, वर्ग और संप्रदाय के लोग एक साथ रहते हैं। यह हमारी शक्ति है। लेकिन सांप्रदायिकता की विद्रूपता इस खूबसूरती का अभिशाप है।

भारतीय समाज में जाति का स्तरीकरण एकता में सबसे बड़ी बाधक है। हम अपने ही समाज में ऊपर-ऊपर से

सब लोग 'विभिन्नता में एकता' की बात करते हैं, लेकिन जाति है कि जाती नहीं है। हमारे यहाँ इतनी जातियाँ हैं कि हर जाति अपने से एक नीची जाति ढूँढ़ लेती है और वह जाति अपने समूह को ऊपर देख गौरवान्वित होने लगती है। ऐसी स्थिति में एकता की प्रतिबद्धता की सैद्धान्तिकी को समझना बहुत जरूरी और ठोस कदम है। हमारे समाज में संकीर्णतावाद समाज के भीतरी अन्तर्कलह को बढ़ाती है। संकीर्णतावाद अंधविश्वास की पहली सीढ़ी है। अंधविश्वास तर्कहीन और अवैज्ञानिक होता है। अंधविश्वास से समाज में भ्रांतियाँ फैलती हैं, यह भ्रांतियाँ सामाजिक और मानसिक विकास के लिए घातक हैं। समकालीन दौर में भारतीय समाज की चुनौतियाँ इन्हीं बिंदुओं पर विमर्श की मांग करती हैं। यह विमर्श कबीर के काव्य के प्रमुख विचार तत्त्व हैं। भारतीय सभ्यताओं की चुनौतियाँ और समाधान दोनों कबीर के काव्य में उपस्थित हैं।

'कबीर का दर्शन' भारतीय समकालीन चुनौतियों का समाधान प्रस्तुत करता है। आज का भारत जन आन्तरिक संकटों का सामना कर रहा है, ऐसे समय में कबीर को याद करना सर्वकालिक और सार्वभौमिक भी है। कबीर को समझे बिना भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति को समझना अधूरा है। कबीर भक्तिकाल के निर्गुण कवि हैं, निर्गुण कवियों में कबीर अद्वितीय कवि हैं। उनका काव्य भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति की चुनौतियों का समाधान प्रस्तुत करता है। भक्तिकाल का उद्भव इस्लाम के आक्रमण और शासन के कारण हुआ था, ऐसी धारणाएँ साहित्य में उपलब्ध हैं। कबीर का काव्य भारतीय चिन्तन का सहज विकास है। उनके काव्य भारतीय सभ्यता के यथार्थ का प्रतिबिम्ब है। भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति में सामाजिक यथार्थ का स्तरीकरण की विभिन्नता कबीर के काव्य की मूल संवेदना है। हमारी संस्कृति में महत्त्वपूर्ण व्यक्ति की पहचान से नहीं है बल्कि उसकी पहचान उन समूह से चिन्हित होती है, जिसे 'जाति' कहा जाता है। जाति 'नैसर्गिक' बिल्कुल भी नहीं है लेकिन भारतीय शास्त्रीय बोध जाति को नैसर्गिक विभाजन के रूप में मानता रहा है। कबीर का दर्शन इसके विपरीत है। कबीरदास की कुछ पंक्तियाँ परम्परागत शास्त्रीय बोध को खुली चुनौती देती हैं, वे कहते हैं कि तुम्हारा और मेरा मन एक समान हो ही नहीं सकता क्योंकि तुम जिन शास्त्रीय बोध का उल्लेख कर रहे हो, वह तुम्हारा नहीं बल्कि परम्परागत बोध है, जो तुमने किताबों अथवा मौखिकी से सुना है, जबकि जो मैं कह रहा हूँ, वह तो अपनी आँखों से देखा हुआ, अपने जीवन के अनुभव के आधार पर है और उसमें तर्क है—

''तेरा मेरा मनुआँ कैसे एक होई रे।
मैं कहता हूँ, आँखिन देखी,
तू कहता है कागद की लेखी।''[1]

कबीर के काव्य में वैज्ञानिक चेतना है, जो आधुनिकता का पर्याय है। आधुनिकता विश्वास की जगह तर्क को स्थापित करती है। कबीर का काव्य तर्कों और वैज्ञानिक चेतना से समन्वय स्थापित करता है। कबीर तर्क को स्थापित करते हैं, तर्क शास्त्रीयता के विरुद्ध है। धर्म में विश्वास महत्त्वपूर्ण होता है लेकिन कबीर के लिए धर्म में तर्क की आवश्यकता है। तर्क और वैज्ञानिक सोच के बिना धर्म अमानवीय हो जाता है। धर्म मानव के लिए होना चाहिए, धर्म की अस्मिता मनुष्य के सम्पूर्ण आध्यात्मिक बोध में है। धर्म मनुष्य को नैतिकता के मूल्य की शिक्षा देता है। वर्णाश्रम धर्म के कारण जो सामाजिक असमानता स्थापित हुई, उस असमानता को दूर करना कबीर की प्रतिबद्धता है। मनुष्य-मनुष्य के बीच तमाम विभाजनकारी शक्तियों की कबीर ख़बर लेते हैं। भक्ति के लिए अहं का त्याग करना पड़ता है। जहाँ अभिमान है, वहाँ भक्ति नहीं हो सकती। अपने अहं का उन्मूलन ही भक्ति का असली अर्थ है—

''भगति दुहेली राम की, नहिं कायर का काम।
सीस उतारे हाथ करि, सो लेसी हरि नाम॥
भगति दुहेली राम की, जसि खाँडे की धार।
जो डोले तो कटि परे, नहीं त उतरे पार॥''[2]

भक्ति कायर व्यक्ति का कार्य नहीं हो सकता है। जिस मानव में अपना सिर भगवान के चरणों में देने की क्षमता होती है, वही भक्ति के मार्ग पर चल सकता है। कबीर ईश्वर के सामने दैन्य भाव में रहते हैं। दैन्य भाव में अहंकार का विसर्जन होता है। जब मनुष्य अहंकार से छुटकारा पा लेता है, तब ही वह ईश्वर की शरणागत होकर भक्ति के मार्ग पर आगे बढ़ पाता है। 'राम' कबीर के यहाँ निर्गुण हैं। राम गुणातीत हैं, लेकिन ईश्वर के रूप में 'राम' दशरथ के पुत्र 'राम' नहीं हैं। कबीर के राम में विश्व-बोध है। सभी मनुष्य एक समान है क्योंकि सभी मनुष्य परमात्मा के अंश है। ''यह राम निरंजन है, उसका रूप नहीं, रेखा नहीं, वह समुद्र भी नहीं, पर्वत भी नहीं,

धरती भी नहीं, आकाश भी नहीं, सूर्य भी नहीं...। वह समस्त वेदों से अतीत, पाप और पुण्य से परे, ज्ञान और ध्यान का अविषय और सूक्ष्म से विवर्जित...।''[3] तुलसीदास के राम सगुण हैं, अवतार लेते हैं, सांसारिक जीवन में मनुष्य के रूप में ईश्वर हैं, जबकि कबीर के राम निर्गुण हैं। उनके राम निराकार हैं, किसी रूप या आकार में नहीं हैं, वे सर्वव्यापी हैं। उनके यहाँ वह मूर्त्ति के रूपों में पूजने से नहीं मिलता है बल्कि आंतरिक अनुभव से इसे प्राप्त किया जा सकता है।

कबीर के राम को किसी भी जाति और धर्म के बंधन में बाँधा नहीं जा सकता है। जबकि तुलसी के राम विष्णु के अवतार हैं। दशरथ के घर में शिशु के रूप में पैदा होते हैं। तुलसीदास के राम अपने छोटे भाई से प्रेम करते हैं, पिता के आज्ञाकारी हैं और पारिवारिक जीवन जीते हैं। कबीर के राम घट-घट में हैं, वे परमात्मा हैं और प्रकृति के सभी जीव उनके अंश हैं।

''कस्तुरी कुंडलि बसै, मृग ढूंढै बन माँहि।
ऐसै घटि घटि राम हैं, दुनियाँ देखे नाँहि।''[4]

कबीरदास धार्मिक अंधविश्वास के विरोधी हैं। समकालीन दौर में आज जब अंधविश्वास के कारण सामाजिक विद्वेष फैल रहा है, ऐसे समय में कबीर याद आते हैं। कबीर का काव्य प्रमाणिकता का दस्तावेज है। उनके दर्शन में तर्क है, वैज्ञानिकता है, इसलिए कबीर का काव्य आधुनिकता का भी पर्याय है। कबीर आधुनिक चेतना के भी कवि हैं, उनकी पंक्तियों में पहले से चली आ रही परम्परागत रूढ़ियों का विरोधी स्वर है। वे कहते हैं, तेरा और मेरा मन एक समान नहीं हो सकता है। क्योंकि मैं जो कुछ कह रहा हूँ, वह अपनी आँखों से देखकर कह रहा हूँ। और जो तुम कह रहे हो, वह तो पूर्व में जो बातें कही गई हैं, उसी की पुनरावृत्ति कर रहो हो -

''मेरा तेरा मनुआ कैसे इक होइ रे।
मैं कहता हौं आँखिन देखी
तू कहता है कागद की लेखी;
मैं कहता सुरक्षावनहारी
तू राख्यौ अरूझाइ रे!''[5]

समकालीन भारतीय समाज की चुनौतियों में वैज्ञानिकता का अभाव भी है क्योंकि वैज्ञानिक सोच एवं चिन्तन तर्क को जन्म देता है। तर्क के बिना कार्य कारण का संबंध विश्वसनीय नहीं होता है। तर्कहीन समाज अंधविश्वास में डूब जाता है। कबीर का काव्य तर्क आधारित है। उन तर्कों के आधार पर समकालीन सामाजिक चुनौतियों का समाधान संभव है। उनके तर्क अकाट्य हैं, कबीर पसन्द या नापसंद हो सकते हैं लेकिन उनके तर्कों पर आप सवाल नहीं उठा सकते, यह कबीर की शक्ति और सामर्थ्य है।

समकालीन भारतीय संस्कृति में धार्मिक पाखंडवाद एक बहुत बड़ी चुनौती है। धार्मिकता के नाम पर सामूहिक साम्प्रदायिकता समाज में जहर फैला रही है। धर्म मानवता के लिए है। जिस धर्म में 'मानवता' समाप्त हो जाए, वह धर्म धर्म नहीं, धार्मिक पाखंडवाद का हिस्सा हो जाता है। मनुष्यता और मानवता धर्म का अभिन्न हिस्सा हैं। मानवता की सेवा मनुष्य का सर्वोपरि धर्म है। समकालीन दौर में भारतीय समाज में ऐसे लोगों की जमात भी है जो अनैतिक कार्य करने में हिचकेंगे नहीं लेकिन धार्मिक कार्यों में संलग्न रहेंगे। यहाँ ऐसे कार्य करने वाले हर धर्म में लोग हैं।

जिस युग में कबीर पैदा हुए, वह युग हिन्दी साहित्य में भक्ति का था। भक्तिकाल में इस्लाम के आगमन ने भारतीय सभ्यताओं एवं संस्कृति को झकझोर दिया था। भारतीय धार्मिक एवं सामाजिक व्यवस्था इस्लाम के आने से परिवर्तित हो रही थी। ''मुसलमानी धर्म एक 'मजहब' है। भारतीय समाज-संगठन से बिल्कुल उल्टे तौर पर उसका संगठन हुआ था। भारतीय समाज जातिगत विशेषता रखकर व्यक्तिगत धर्म-साधना का पक्षपाती था, इस्लाम जातिगत विशेषता का लोप करके समूह-गत धर्म-साधना का प्रचारक था।''[6] ऐसे समय में कबीर का आविर्भाव भारतीय धर्म साधना में एक विलक्षण प्रतिभा का अभ्युदय था। कबीर हर धर्म के धार्मिक पाखंड के विरुद्ध भक्ति में 'प्रेम' भक्ति साधना को महत्त्व देते थे। प्रेम कबीर के लिए भक्ति का साध्य है। वे उस शास्त्रीय पांडित्य को समाज के लिए एक बोझ मानते थे जो बोझ समाज को एक जड़ बना देता है। कबीर के लिए भगवत्-प्रेम भक्ति-साधना का अभिन्न हिस्सा है—

''पढ़ि पढ़ि के पत्थर भया,
लिखि लिखि भया जु ईंट।
कहै कबीरा प्रेम की, लगी न एकौ छींट॥
पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुआ, पंडित भया न कोइ।
ढाई अक्षर प्रेम का, पढ़े सो पंडित होइ॥''[7]

कबीर के लिए प्रेम ही भक्ति का उत्कृष्ट रूप है।

जहाँ प्रेम नहीं वहाँ भक्ति अकल्पनीय है। 'प्रेम' भक्ति का असली स्वरूप है। कबीरदास एक क्रांतिकारी कवि थे। वे बहुत साहसी और विद्रोही स्वभाव के थे, उन्होंने समाज के उन धर्माचार्यों से सीधे टक्कर ली थी, जो सदियों से यथास्थितिवादी व्यवस्था को बनाए रखना चाहते थे। कबीर समतामूलक समाज का निर्माण करना चाहते थे। ऐसे उद्देश्य के आगे जो भी कांटे सामने आए, उन सभी को उन्होंने उखाड़ फेंकने का कार्य किया। वे बाह्यचारों के सबसे बड़े विरोधी थे। उनके काव्य में जाति, सम्प्रदाय, ध र्म के बाह्याडम्बर, कठमुल्लापन सभी का विरोध हुआ है। कबीरदास के व्यक्तित्व में ऐसा कुछ अलग था, जो उन्हें अन्य कवियों से अलग करता था। ''वे मुसलमान होकर भी असल में मुसलमान नहीं थे, हिंदू होकर भी हिंदू नहीं थे, वे साधु होकर भी साधु नहीं थे, वे वैष्णव होकर भी वैष्णव नहीं थे, योगी होकर भी योगी नहीं थे। वे कुछ भगवान की ओर से ही सबसे न्यारे बनाकर भेजे गए थे।''[8]

कबीर का काव्य प्रत्येक धर्म के अन्तर्गत उन मान्यताओं के प्रतिरोध में खड़ा है, जो मानव मानव के बीच विभेद पैदा करता हो। उनका दर्शन बाह्याडम्बरों के खिलाफ है। वे तीर्थस्थलों, उपवास और तमाम तरह के व्रतों के खिलाफ थे। वे भक्ति मार्ग का 'प्रेम ही साधन है', ऐसा स्वीकार करते हैं। वे पूजा-पाठ, नमाज, हज, तीर्थ सबके विरोध में थे। कबीर के लिए उनकी 'अंतरात्मा' ही महत्त्वपूर्ण है। उनका दर्शन सभी धर्मों में धार्मिक अंधविश्वास, बाह्याडम्बर, कुरीतियों के खिलाफ एक मुखर एवं सशक्त आवाज है। इसलिए कबीर दूसरे के लिए ग्राह्य नहीं हैं। कबीर जैसे हिम्मती और साहसी व्यक्तित्व कई युगों में जन्म लेते हैं। वे सांसारिक जीवन में उन मूल्यों को स्थापित करते हैं, जो मनुष्य को समानता, भाई-चारे की ओर ले जाते हैं। इसलिए कबीर विद्रोही कवि के रूप में स्थापित होते हैं—

''कबिरा खड़ा बजार में लिये लुकाठी हाथ।
जो घर फूँके आपना सो चले हमारे साथ॥''[9]

कबीर अपने सिद्धांतों में अकेले संघर्ष के रास्ते को अपनाते हैं। वे नई लीक बनाते हैं। उनके रास्ते वही चल सकते हैं, जो उनके ही जैसा हिम्मती और साहसी व्यक्ति हो। जो परम्पराओं को तोड़ने वाले हों। समकालीन सामाजिक चुनौतियों में ऊँच-नीच का भेदभाव, जातिगत श्रेष्ठता का बोध, सामाजिक भेदभाव, गैर-बराबरी आदि गलत भाव हमारी सभ्यता का अहम् हिस्सा बन चुके हैं। आज जबकि भारतीय अर्थव्यवस्था तीसरी शक्ति बनने की प्रक्रिया में है, फिर भी भारतीय संस्कृति का सामाजिक संरचना में असमानताओं का समुद्र है। ऊपरी संरचनाओं में हम लोग भारतीय हैं लेकिन भीतरी व्यवस्थाओं में हम लोग जातीय—सामाजिक संरचना में आबद्ध हैं। जातीय व्यवस्था की मूल संरचना सहभोज और शादी विवाह का बंधन है। भारतीय सभ्यता में सहभोज जैसी परम्पराएँ गहरी धँसी हुई हैं। लोग अपनी ही जाति-बिरादरी में सामूहिक भोजन करना ज्यादा पसंद करते हैं। वैसे ही शादी-विवाह का बंधन भी है। इक्कीसवीं सदी में भी ऐसी परम्पराएँ हमारे प्रगतिशील समाज की सबसे बड़ी चुनौती हैं। अन्तर्जातीय विवाह भले ही आज के युवक और युवतियाँ कर रहे हैं लेकिन ऐसे विवाह की सामाजिक स्वीकार्यता नगण्य है।

कबीर ऐसी सामाजिक संरचना के सबसे बड़े विरोधी हैं। उनका दर्शन सामाजिक चेतना का उद्‌गम स्थल है। आज का दौर सामाजिक चेतना का है। सामाजिक चेतना में समाज के पुराने मूल्यों का ह्रास होता है और नये मूल्यों का आविर्भाव।

''पांडिया कौन कुमति तुम लागे।
बूड़हु गे परवार सकल स्यो राम न जपहु अभागे॥
बेद पुरान पढ़े का किया गन खर चंदन जस भारा॥
राम नाम की गति नहीं जानी कैसे उतरसि पारा॥''[10]

'राम' का नाम सामाजिक चेतना का उद्‌घोष है। राम 'निर्गुण' हैं। वे अवतार नहीं लेते, राम हरी ब्रह्म हैं, परमात्मा हैं। उसी परमात्मा का अंश संपूर्ण जीवात्मा भी हैं। जब सभी जीवात्मा परमात्मा के ही अंश है तो फिर मनुष्य-मनुष्य के बीच ऊँच-नीच का भेदभाव क्यों है। सामाजिक चेतना का भी मूल स्वर तो अन्याय एवं सामाजिक भेदभाव के विरुद्ध ही है। यदि कबीर के दर्शन को भारतीय जनमानस व्यावहारिक रूप से जीवन का हिस्सा बना ले तो ऊँच-नीच का भेदभाव सदा के लिए समाज से खत्म हो जाएगा। कबीर अपने लिए चिन्तित नहीं हैं, कबीर संसार के लिए रोते हैं, जो सच्चाई को नहीं समझते और भ्रमवश जीवन को अज्ञानता के वश में परिभाषित करते हैं –

''सुखिया सब संसार है, खावै अरू सोवै।
दुखिया दास कबीर है जागै अरू रोवै।''[11]

कबीर का दर्शन मानवतावादी है, मनुष्यता उसके

केंद्र में है। मनुष्यता और मानवतावाद विश्व का धर्म है। जो मानवतावादी है, मानव-मूल्य को समझता है, ऐसा धर्म सर्वोपरि है। उदारता मानवता की केन्द्रीय धुरी है मानव और मानव के बीच तमाम विभाजनकारी शक्तियों को कबीर उखाड़ फेंकते हैं। कबीर के काव्य में मनुष्यता की संवेदना का मूल स्वर है। उनके काव्य की पूर्ण कसौटियों में मानवतावादी दृष्टिकोण है। वे हर धर्म में कठमुल्लापन के विरोधी हैं। तर्क और वैज्ञानिकता उनके दर्शन का अहम हिस्सा है। कबीर तर्कों के सहारे एक बहुत बड़े दार्शनिक के रूप में स्थापित होते चले जाते हैं। जबकि तर्क और धर्म दोनों एक-दूसरे के विपरीत धारा के रूप में चिन्हित होते रहे हैं। कबीर धर्म को भी तर्क के सहारे स्थापित करते हैं। वे अंधविश्वास के खिलाफ पूरे जीवन संघर्ष करते रहे और अन्तत: अपनी मृत्यु को भी उन्होंने 'तर्क' के सहारे सिद्ध किया। अगर बनारस में किसी की मृत्यु होती है तो उसे स्वर्ग मिलता है और मगहर में मृत्यु नर्क का सूचक होता था। लेकिन कबीर मगहर को चुनते हैं। यह अंधविश्वास तोड़ने का सबसे बड़ा टूल्स है, जिसका अनुप्रयोग अपने जीवन की व्यावहारिकता में कबीर करते हैं—

''हिरदै कठोर गरया बनारसी नरक न बंच्या जाई।
हरि को दास मरे जो मगहर सन्ध्या सकल तिराई॥
जस कासी तस मगहर ऊसर हृदय रामसति होई॥''[12]

कबीर तर्कवादी दार्शनिक हैं। उनके तर्क जीवन की व्यावहारिकता की कुंजी हैं। वे अपने जीवन के व्यवहार से ऐसे सिद्धांत गढ़ते हैं, जो दूसरों के लिए प्रेरणा का स्रोत हों।

समकालीन भारतीय चुनौतियाँ गैर बराबरी समाज का समतलीकरण की समस्या भी है। सामाजिक न्याय की अवधारणा का मूल स्रोत कबीर का दर्शन है। सामाजिक न्याय, सामाजिक-आर्थिक समानता की बात करता है। कबीर का दर्शन सामाजिक, सांस्कृतिक समानता का मूल आधार है। वे जिन वर्गों के लिए चिन्तित और सबसे ज्यादा सरोकार रखते थे, वह वर्ग समाज का वंचित वर्ग था। उन वर्गों को सामाजिक सशक्तिकरण की सबसे ज्यादा आवश्यकता थी। आज के 'दलित-विमर्श' की सैद्धान्तिकी कबीर के दर्शन में है। मामव-मानव के बीच उत्पन्न विभेद का समाधान कबीर का दर्शन प्रस्तुत करता है। दलित-विमर्श की चुनौतियों का समाधान कबीर के दर्शन में मौजूद है।

बाबा साहेब अम्बेडकर 'कबीर' को अपना गुरू मानते थे। कबीर के 'निर्गुण राम' से बाबा साहेब बहुत प्रभावित थे। कबीर का दर्शन जातिवाद, वर्गवाद, सम्प्रदायवाद आदि के विरुद्ध था। उनके सम्पूर्ण जीवन दर्शन में 'ब्राह्मणवाद' का विरोध और सामाजिक न्याय और समानता की बात है। कबीर के दर्शन में छुआछूत, ऊँच-नीच का विरोध था और सामाजिक समानता का विचार सर्वोपरि। भारतीय समाज को जातिवादी व्यवस्था ने गुलामी की जंजीरों से बाँध दिया है। कबीर जातिवादी व्यवस्था के धुर विरोधी थे, उन्होंने शुद्ध मनुष्यता की परिकल्पना की थी। यही कारण है कि बाबा साहेब अम्बेडकर उनके दर्शन से न केवल प्रभावित हुए बल्कि संविधान में 'कबीर के दर्शन' से प्रगतिशीलता की प्रेरणा ग्रहण कर 'समानता प्रदत्त समाज' की स्थापना का स्वप्न साकार किया। कबीर की भाषा सधुक्कड़ी है, उनकी भाषा में पंचमेल है। जहाँ वे ठहरते थे, वहाँ की भाषा को स्वीकार कर लेते थे। उनको 'वाणी का डिक्टेटर' कहा जाता है। ''यह विलक्षण है कि कबीर में जैसा बोलियाँ का सम्मिश्रण है वैसा ही मनोदशाओं का भी। यह निश्चय ही उनकी कला-क्षमता का प्रमाण है। पूरब में भोजपुरी से लेकर पश्चिम में राजस्थानी तक उनका भाषिक-संवेदनात्मक विस्तार है।''[13] कबीर भाषाओं से वही कहलवाते थे जो वे कहलवाना चाहते थे। वे अपने काव्य में भाषा को अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में व्यक्त करते थे। भाषा उनके लिए एक टूल्स था, जो वे कहना चाहते थे, उससे कहलवा लेते थे। यह शैली कबीर की थी, जो उनको दूसरे कवियों से अलग करती थी। उनकी भाषा उलटबाँसी का पर्याय है, जिन विचारों को वे सीधे-सीधे नहीं कह सकते थे, उनको उलटकर कहने की शैली उनकी अपनी शैली थी। व्यंग्य की शैली कबीर का विलक्षण प्रतिभा का सूचक है। समकालीन भारतीय चुनौतियाँ 'भाषा' का विवाद भी है। कबीर का भाषाई दर्शन उन चुनौतियों का समाधान प्रस्तुत करता है। कबीर का दर्शन भाषाई संदर्भ में खाटी देशीपन का है। वे शास्त्रीयता के बरक्स देशीय भाषा अस्मिता को महत्त्व देते थे। इसलिए कबीर में अभिव्यक्ति की विलक्षण क्षमता थी। उनका काव्य आज भी जनमानस में मौखिकी अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम है। 'कबीर-वाणी' आज भी लोक जनमानस में गायन परम्परा में विद्यमान है। कबीर आज के समकालीन भारतीय समाज की चुनौतियों

के समाधान हैं।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. कबीर-वाणी - क्षितिजमोहन सेन, पद संख्या - 163
2. कबीर - सं. विजयेन्द्र स्नातक, पृ.सं. - 151
3. कबीर - हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ.सं. - 98
4. कबीर ग्रन्थावली, सं. डॉ. श्यामसुन्दर दास, पृ.सं. - 112
5. कबीर - सं. विजयेन्द्र स्नातक, पृ.सं. - 55
6. कबीर - हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ.सं. - 137
7. वही, पृ.सं. - 145
8. वही, पृ.सं. - 144
9. हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास, रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृ.सं. - 39
10. कबीर ग्रन्थावली - सं. डॉ. श्यामसुन्दर दास, पृ.सं. - 280
11. वही, पृ.सं. - 29
12. कबीर - सं. विजयेन्द्र स्नातक, पृ.सं. - 17
13. हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास - रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृ.सं. - 40

डॉ. राजकुमार राजन

(एसोसिएट प्रोफेसर)

शहीद भगत सिंह महाविद्यालय,

दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

डॉ. सायमा इकबाल

एसोसिएट प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग

शहीद भगत सिंह महाविद्यालय,

दिल्ली विश्वविद्यालय

भारतीय राजनीति को आकार देने में हिंदी भाषा की भूमिका

– डॉ. सुमन यादव

मुख्य शब्द

मुख्यधारा, अंतर्दृष्टि, परिदृश्य, संप्रेषित, सारांश, एकीकृत कारक, बारीकियाँ, परिष्कृत, समावेशिता, परिभाषित, आख्यान, बहुमुखी भूमिका, ताने-बाने, पारंगत, लोकतांत्रिक संचार, बहुसांस्कृतिक, बहुभाषी, सत्ता-साझाकरण, भूगोलिक-राजनीतिक इत्यादि।

लेख का उद्देश्य

लेख का उद्देश्य भारतीय राजनीति को आकार देने में हिंदी भाषा द्वारा निभाई गई महत्वपूर्ण भूमिका का पता लगाना और उसका विश्लेषण करना है। विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डालते हुए इसमें बताया गया है कि भारत में सबसे अधिक बोली जाने वाली भाषाओं में से एक के रूप में हिंदी देश के राजनीतिक परिदृश्य को कैसे प्रभावित करती है। इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए विभिन्न बिंदुओं पर भी विचार किया गया है जैसे स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान हिंदी की भूमिका और राष्ट्रीय अस्मिता से इसके जुड़ाव, भारत में भाषाई विविधता और विभिन्न भाषाई समुदायों के बीच एक आम कड़ी के रूप में हिंदी, बहुभाषी समाज में संचार की भाषा के रूप में हिंदी का प्रयोग और चुनौतियाँ, भारत सरकार की आधिकारिक भाषाओं में से एक के रूप में हिंदी की संवैधानिक स्थिति, आधिकारिक संचार में हिंदी के प्रयोग को बढ़ावा देने के लिए सरकार द्वारा बनाई गई नीतियों और शुरू की गई पहलों पर चर्चा।

क्यों राजनीतिक अभियानों और भाषणों में राजनीतिक नेता बड़े पैमाने पर दर्शकों से जुड़ने और अपने संदेशों को प्रभावी ढंग से व्यक्त करने के लिए हिंदी भाषा का प्रयोग करते हैं। मुख्यधारा के मीडिया में हिंदी की भूमिका और सार्वजनिक चर्चाओं पर इसके प्रभाव एवं राजनीतिक आख्यानों को आकार देने में इसके योगदान का अन्वेषण। भारतीय राजनीति को आकार देने में हिंदी के स्थायी महत्व और आने वाले वर्षों में इसकी विकसित भूमिका पर अंतर्दृष्टि डालना भी लेख का उद्देश्य है।

सार

इस लेख में भारत के राजनीतिक परिदृश्य में हिंदी के बहुमुखी प्रभाव की पड़ताल के साथ-साथ इसकी शुरुआत के ऐतिहासिक संदर्भों को प्रदान करने, स्वतंत्रता आंदोलन में हिंदी की प्रमुखता और राष्ट्रीय पहचान के साथ इसके जुड़ाव का पता लगाने की कोशिश की गई है। यह सत्य है कि देश की भाषाई विविधता को भारत के जनमानस ने मूलरूप से स्वीकार किया है, जिसमें विभिन्न भाषाई समुदायों के बीच एक सामान्य सूत्र के रूप में हिंदी भाषा की भूमिका अहम् है। इस लेख के सार के रूप में आधिकारिक संचार में हिंदी के प्रयोग को बढ़ावा देने के लिए सरकारी पहल के साथ-साथ आधिकारिक भाषा के रूप में हिंदी की संवैधानिक स्थिति की जाँच की गई है। यह लेख राजनीतिक अभियानों पर प्रकाश डालता है, जिसमें इस बात पर बल दिया गया है कि नेता कैसे व्यापक दर्शकों से जुड़ने और संदेशों को प्रभावी ढंग से संप्रेषित करने के लिए हिंदी भाषा का प्रयोग करते हैं। यह लेख शिक्षा के माध्यम के रूप में हिंदी के बीच संबंध और राजनीतिक जागरूकता और भागीदारी पर इसके प्रभाव को संबोधित करता है। भाषाई विविधता को समायोजित करने के लिए एक संतुलित दृष्टिकोण की आवश्यकता को पहचानते हुए, हिंदी को अपनाने से जुड़ी चुनौतियों, विवादों और भाषा नीतियों पर बहस का संक्षिप्त विश्लेषण भी इसमें निहित है।

भाषा की गतिशीलता में संभावित विकास और परिवर्तनों को देखते हुए, भारतीय राजनीति में हिंदी के भविष्य के दृष्टिकोण का आंकलन लेख के मुख्य बिंदुओं का सारांश है, जिसमें भारतीय राजनीति को आकार देने में हिंदी के

स्थायी महत्व और निकट भविष्य में इसकी विकसित भूमिका का अध्ययन समाहित है।

भारत में हिंदी भाषा के आयाम

भारतीय राजनीति में हिंदी भाषा की भूमिका बहुआयामी और महत्वपूर्ण है, जिसमें ऐतिहासिक, सांस्कृतिक और भाषाई आयाम शामिल हैं। भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान हिंदी ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई, महात्मा गांधी जैसे नेताओं ने राष्ट्रीय एकता के प्रतीक के रूप में इसके प्रयोग पर जोर दिया। हिंदी भाषी क्षेत्र, जिसे अक्सर "हिंदी हार्टलैंड" कहा जाता है, विभिन्न राजनीतिक आंदोलनों और पार्टियों के लिए एक ऐतिहासिक गढ़ रहा है। संविधान की आठवीं अनुसूची के अनुसार, हिंदी को भारत सरकार की आधिकारिक भाषाओं में से एक का दर्जा प्राप्त है। केंद्र सरकार आधिकारिक संचार और दस्तावेजीकरण में हिंदी का बड़े पैमाने पर प्रयोग करती है। चूंकि हिंदी भारतवर्ष की राजभाषा भी है।

हिंदी राजनीतिक नेताओं के लिए विशाल और विविध आबादी के साथ संवाद करने के लिए एक शक्तिशाली उपकरण के रूप में कार्य करती है। नेता अक्सर भाषाई सीमाओं से परे लोगों से जुड़ने के लिए भाषणों, रैलियों और अभियानों में हिंदी का प्रयोग करते हैं। राजनीतिक अभियान, विशेष रूप से राष्ट्रीय स्तर पर, व्यापक दर्शकों तक पहुंचने और संदेशों को प्रभावी ढंग से संप्रेषित करने के लिए अक्सर हिंदी को ही अपनी भाषा के रूप में शामिल करते हैं। हिंदी अक्सर एक समान राष्ट्रीय पहचान के विचार से जुड़ी होती है। इसके प्रचार को एक एकीकृत कारक के रूप में देखा जाता है जो भाषाई और क्षेत्रीय मतभेदों से परे है। बल्कि हिंदी को बढ़ावा देने के प्रयास कभी-कभी भारतीय पहचान की मजबूत भावना को बढ़ावा देने की दृष्टि से जुड़े भी होते हैं।

टेलीविजन, समाचार पत्र और ऑनलाइन प्लेटफॉर्म सहित भारतीय मीडिया में हिंदी एक प्रमुख भाषा है। हिंदी में राजनीतिक बहसें, चर्चाएं और साक्षात्कार देश में राजनीतिक विमर्श में महत्वपूर्ण योगदान देते हैं। भारत के अधिकतर हिस्सों में शिक्षा के माध्यम के रूप में हिंदी का व्यापक रूप से प्रयोग किया जाता है। स्कूलों और कॉलेजों में शिक्षा की भाषा युवा पीढ़ी के बीच राजनीतिक जागरूकता और विचारधारा को प्रभावित करती है। हालाँकि हिंदी भारतवर्ष में व्यापक रूप से बोली, समझी और लिखी जाती है, गौरतलब है कि हिंदी भाषी क्षेत्रों में भी क्षेत्रीय विविधताएँ और बोलियाँ हैं। राजनेताओं के लिए विविध क्षेत्रीय आबादी के साथ प्रभावी ढंग से जुड़ने के लिए इन बारीकियों को समझना महत्वपूर्ण है।

भारत भाषाई रूप से विविध है, पूरे देश में कई भाषाएँ बोली जाती हैं। हिंदी को एक प्रमुख भाषा के रूप में बढ़ावा देने के प्रयासों को समावेशिता और प्रतिनिधित्व सुनिश्चित करने के लिए चुनौतियों का सामना करना होगा। हिंदी राजनीतिक पहचान और संबद्धता को प्रभावित कर सकती है, खासकर उन राज्यों में जहां यह प्रमुख भाषा है। राजनीतिक दल अक्सर हिंदी भाषी मतदाताओं को ध्यान में रखकर अपना संदेश देते हैं। भारतीय राजनीति में हिंदी की भूमिका बदलती जनसांख्यिकी, संचार प्रौद्योगिकियों और राजनीतिक परिदृश्य के साथ विकसित होने की संभावना है। राष्ट्रीय और क्षेत्रीय राजनीतिक गतिशीलता को आकार देने में भाषा एक महत्वपूर्ण कारक बनी रहेगी। भारतीय राजनीति में हिंदी की भूमिका देश के ऐतिहासिक और सांस्कृतिक ताने-बाने में गहराई से अंतर्निहित है। यह विविध भाषाई समुदायों के बीच एक पुल के रूप में कार्य करती है, जो भारतीय राजनीतिक पहचान की जटिल टेपेस्ट्री में महत्व्वपूर्ण योगदान देती है।

हिंदी भारत देश की राजभाषा

हिंदी भारत की आधिकारिक भाषाओं में से एक है, लेकिन यह ध्यान रखना आवश्यक है कि भारत एक भाषाई विविधता वाला देश है, जिसके राज्यों और क्षेत्रों में कई भाषाएँ बोली जाती हैं। भारत के संविधान की आठवीं अनुसूची के तहत, हिंदी सहित 22 आधिकारिक भाषाओं को मान्यता प्राप्त्त है। देवनागरी लिपि में लिखी गई हिंदी का प्रयोग केंद्र सरकार द्वारा आधिकारिक पत्राचार और दस्तावेजीकरण के लिए किया जाता है। हालाँकि, भारत में अलग-अलग राज्य अपने राज्घ्य के भीतर प्रयोग के लिए अपनी आधिकारिक भाषाएँ नामित करने के लिए स्वतंत्र हैं। हिंदी भाषा भारतीय संविधान में महत्वपूर्ण स्थ्थान रखती है, जो देश के विविध सांस्कृतिक और भाषाई परिदृश्य में इसकी भूमिका को दर्शाती है। संविधान में कई प्रावधान हिंदी के महत्व पर प्रकाश डालते हैं और इसे राजभाषा का दर्जा प्रदान करते हैं।

भारतीय संविधान का अनुच्छेद 343 देवनागरी लिपि में लिखी जाने वाली हिंदी को भारत सरकार की आधिकारिक भाषा के रूप में नामित करता है। यह निर्दिष्ट करता है कि संघ के आधिकारिक उद्देश्यों के लिए प्रयोग किए जाने वाले अंकों का रूप भारतीय अंकों का अंतर्राष्ट्रीय रूप होगा। अनुच्छेद 120, 210 एवं 343

से लेकर 351 तक सभी अनुच्छेद संघ के आधिकारिक उद्देश्यों के लिए हिंदी भाषा के प्रगतिशील प्रयोग, भारत गणराज्य की आधिकारिक भाषाओं को मान्यता देने, विभिन्न राज्यों या केंद्र शासित प्रदेशों के लिए अलग-अलग भाषाओं के साथ हिंदी को राज्य और केंद्र शासित प्रदेश स्तर पर आधिकारिक भाषा माने जाने इत्यादि बिंदुओं पर प्रकाश डालते हैं।

हिंदी संविधान में एक विशेष स्थान रखती है, भाषाई विविधता पर संविधान के व्यापक परिप्रेक्ष्य को स्वीकार करना महत्वपूर्ण है। संविधान कई भाषाओं को मान्यता देता है और विभिन्न संदर्भों में उनके प्रयोग का प्रावधान करता है, जिससे भारत की समृद्ध भाषाई विविधता एवं जटिलता के लचीलेपन और समायोजन की अनुमति मिलती है। यह भारतीय आबादी के भाषाई अधिकारों और विविधता का सम्मान करते हुए हिंदी के विकास और प्रयोग को बढ़ावा देता है।

स्वतंत्र भारत की राजनीति में हिंदी भाषा

स्वतंत्र भारत में राजनीति के माध्यम के रूप में हिंदी ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। हिंदी को एक ऐसी भाषा के रूप में देखा गया जो विविध भाषाई और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि वाले देश में एक एकीकृत शक्ति के रूप में काम कर सकती है। स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान महात्मा गांधी सहित नेताओं ने राष्ट्रीय पहचान और एकता की भावना को बढ़ावा देने के साधन के रूप में हिंदी को बढ़ावा देने की वकालत की। 1950 में अपनाए गए भारतीय संविधान ने हिंदी को देश की आधिकारिक भाषाओं में से राजभाषा के रूप में मान्यता दी, साथ ही आधिकारिक भाषा के रूप में अंग्रेजी को चरणबद्ध तरीके से समाप्त करने की समय सीमा भी निर्धारित की। यदपि भाषा के मुद्दे ने विशेष रूप से हिंदी के समर्थकों और अंग्रेजी के निरंतर उपयोग की वकालत करने वालों के बीच बहस और विवादों को जन्म दिया।

''हिंदी थोपने'' की बहस के कारण गैर-हिंदी भाषी क्षेत्रों में विरोध प्रदर्शन हुआ, जिसके परिणामस्वरूप सरकार ने अधिक उदार दृष्टिकोण अपनाया और अंग्रेजी को एक सहयोगी आधिकारिक भाषा के रूप में बरकरार रखा। तो भी संसदीय कार्यवाही, आधिकारिक दस्तावेजों और केंद्र सरकार के स्तर पर पत्राचार में हिंदी का व्यापक रूप से प्रयोग किया जाने लगा एवं व्यापक स्थ्तर पर दर्शकों से जुड़ने के लिए राष्ट्रपति और प्रधानमंत्री अक्सर अपने भाषणों और आधिकारिक पत्राचार में हिंदी का अत्यधिक प्रयोग करने लगे। राजनीतिक नेताओं के चुनाव अभियानों, रैलियों और सार्वजनिक संबोधनों में प्राथमिक भाषा के रूप में हिंदी का निरंतर प्रयोग होने लगा जोकि नेताओं को विभिन्न राज्यों और क्षेत्रों में विविध दर्शकों के साथ प्रभावी ढंग से संवाद करने की अनुमति देता था।

जहां हिंदी भाषा भारत के अधिकांश क्षेत्रों में व्यापक रूप से बोली और स्वीकार की जाती है, वहीं देश के कुछ भागों में हिंदी भाषा को अपनाने को लेकर तनाव की स्थिति भी देखी जाती है, खासकर उन राज्यों में जहां अन्य भाषाएं मजबूत सांस्कृतिक और ऐतिहासिक महत्व रखती हैं। जिसके चलते भाषाई विविधता की सुरक्षा के साथ हिंदी के प्रचार-प्रसार को संतुलित करना नीति निर्माताओं के लिए निरंतर एक चुनौतीपूर्ण कार्य रहा है। तथापि स्वतंत्र भारत के राजनीतिक परिदृश्य में हिंदी भाषा सम्प्रेषण का एक महत्वपूर्ण माध्यम रही है। हालाँकि इसे बढ़ावा देने के लिए किए जा रहे सरकारी प्रयास भी महत्वपूर्ण रहे हैं, तो भी देश की भाषाई विविधता के लिए क्षेत्रीय भाषाओं और पहचानों के लिए समावेशिता और सम्मान सुनिश्चित करने के लिए एक नाजुक संतुलन की आवश्यकता है। भारतीय राजनेताओं की राजनीति को परिष्कृत करने में हिंदी का प्रयोग और इसकी भूमिका जहां किसी भी विवाद से परे है वही राष्ट्रीय एकता और भाषाई विविधता के चलते हिंदी भाषा की मान्यता का प्रश्न इनके बीच जटिल अंतरसंबंध को दर्शाता है।

हिंदी विश्व की संभवत: सबसे वैज्ञानिक भाषा

किसी भी अन्य भाषा की तरह हिंदी की भी अपनी अनूठी विशेषताएं, संरचना और व्याकरण है। यह इंडो-यूरोपीय भाषा परिवार की इंडो-आर्यन शाखा से संबंधित है और इसका एक समृद्ध साहित्यिक और सांस्कृतिक इतिहास है। हालाँकि, किसी भाषा में वैज्ञानिक कठोरता का विचार उस सटीकता और स्पष्टता पर बेहतर ढंग से लागू किया जा सकता है जिसके साथ वह जटिल विचारों को व्यक्त कर सकती है या जानकारी दे सकती है।

विभिन्न वैज्ञानिक, तकनीकी और शैक्षणिक क्षेत्रों में हिंदी सहित कई भाषाओं का प्रभावी ढंग से प्रयोग किया गया है। वैज्ञानिक समुदाय आमतौर पर सटीक और तकनीकी अवधारणाओं को व्यक्त करने के लिए उनकी उपयुक्तता के आधार पर भाषाओं को अपनाता है और उनका उपयोग करता है। हिंदी एक परिष्कृत और अभिव्यंजक भाषा है, दुनिया भर की भाषाओं की विविधता

और समृद्धि की सराहना करना आवश्यक है, जिनमें से प्रत्येक की अपनी ताकत और विशेषताएं हैं। वैज्ञानिक अवधारणाओं को व्यक्त करने में किसी भाषा की प्रभावशीलता अक्सर इस बात पर निर्भर करती है कि इसे विज्ञान, प्रौद्योगिकी और शिक्षा के विशिष्ट क्षेत्रों में कितनी अच्छी तरह अनुकूलित और विकसित किया गया है। यह ध्यान रखना महत्वपूर्ण है कि किसी भाषा के ''वैज्ञानिक'' होने की अवधारणा सार्वभौमिक रूप से परिभाषित नहीं है, और इस मामले पर राय भिन्न हो सकती है।

भारत की राजनीति को आकार देने की भूमिका में हिंदी भाषा की कसौटी

हिंदी भाषा भारतीय राजनीति को आकार देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है इसमें कोई दो राय नहीं हो सकती, जो देश की भाषाई विविधता और जटिल सामाजिक-राजनीतिक परिदृश्य को दर्शाती है। भारत भाषाओं की एक विशाल श्रृंखला का घर है, संविधान में 22 आधिकारिक तौर पर मान्यता प्राप्त भाषाओं को मान्यता दी गई है। प्रत्येक राज्य की अक्सर अपनी आधिकारिक भाषा होती है, जो भाषाई विविधता में योगदान करती है। यह विविधता राजनीतिक क्रियाकलापों, भाषणों और अभियानों में परिलक्षित होती है, जहां नेता विविध भाषाई समुदायों से जुड़ने के लिए कई भाषाओं का प्रयोग करते हैं। त्रि-भाषा फॉर्मूला, भी इसी का प्रतिफल है। भारत में भाषा क्षेत्रीय और सांस्कृतिक पहचान से जुड़ी हुई है। राजनीतिक दल अक्सर पहचान की राजनीति में संलग्न होते हैं, वे विशिष्ट मतदाताओं को आकर्षित करने के लिए क्षेत्रीय भाषाओं के संरक्षण और प्रचार की वकालत भी करते हैं।

मीडिया के माध्यम से सार्वजनिक चर्चा को आकार देने में भाषा एक शक्तिशाली उपकरण है। समाचार पत्र, टेलीविजन और ऑनलाइन प्लेटफॉर्म राजनीतिक संदेश देने, आख्यानों को आकार देने और जनता की राय को प्रभावित करने के लिए भाषा का उपयोग करते हैं। मीडिया में भाषा का चुनाव इस बात पर प्रभाव डालता है कि जनता राजनीतिक घटनाओं और मुद्दों को किस प्रकार देखती है। हिंदी भाषा संसदीय कार्यवाही का अभिन्न अंग है। हालांकि संसद सदस्य हिंदी या अंग्रेजी में अपनी बात कहने के लिए स्वतंत्र हैं, और साथ ही क्षेत्रीय भाषाओं में बोलने वालों के लिए व्याख्या सेवाएं भी प्रदान की गई हैं। कई भारतीय राजनेता द्विभाषी या बहुभाषी हैं। कोड-स्विचिंग, बातचीत में भाषाओं के बीच स्विच करने की क्षमता, अक्सर विभिन्न भाषाई समूहों से जुड़ने के लिए रणनीतिक रूप से उपयोग की जाती रही है। व्यापक अपील सुनिश्चित करने के लिए राजनेता कई भाषाओं में सभाओं को संबोधित भी करते हैं।

चुनाव प्रचार के दौरान, राजनीतिक दल मतदाताओं से जुड़ने के लिए भाषा को एक उपकरण के रूप में प्रयोग करते हैं। नारे, भाषण और अभियान सामग्री उन भाषाओं में तैयार की जाती हैं जो स्थानीय आबादी के साथ जुड़ती हैं, प्रभावी संचार और आउटरीच में योगदान करती हैं। भारतीय राजनीति में भाषा की भूमिका को समझने के लिए विविध भाषाई परिदृश्य, ऐतिहासिक संदर्भ और भाषा और पहचान के बीच गतिशील अंतरसंबंध पर विचार करने की आवश्यकता है। राजनीतिक नेता अपनी भाषाई विविधता वाले देश में गठबंधन बनाने, समर्थन जुटाने और राजनीतिक दृष्टिकोण को स्पष्ट करने के लिए इन भाषाई जटिलताओं को नेविगेट करते हैं तो भी हिंदी भाषा का जानकार एवं पारांगत राजनेता भारतीय राजनीति की दशा और दिशा बदलने में सक्षम होता है जिसके अनेकों-अनेक उदाहरण भारतीय राजनीतिक इतिहास में विद्यमान है चूंकि भारत में हिंदी जनमानस की भाषा के रूप में स्थापित है।

राजनीतिक शक्ति की निर्धारक भाषा

सभी देशों में, राजभाषा या सरकार द्वारा परिभाषित भाषाएँ राजनीतिक सत्ता में महत्वपूर्ण स्थ्थान रखती हैं। सरकारी पत्राचार, कानून और आधिकारिक दस्तावेज अक्सर आधिकारिक भाषा/भाषाओं में संचालित होते हैं। राजनीतिक भागीदारी और उन्नति के लिए राजभाषा का ज्ञान अत्यन्त महत्वपूर्ण होता है। किसी क्षेत्र या देश की भाषाई जनसांख्यिकी राजनीतिक सत्ता की भाषा निर्धारित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। उन क्षेत्रों में जहां एक विशेष भाषा बहुसंख्यक या आबादी के एक महत्वपूर्ण हिस्से द्वारा बोली जाती है, उस भाषा के राजनीतिक क्षेत्रों में प्रभावशाली होने की संभावना भी उतनी ही प्रबल होती है। देश के इतिहास, संस्थापक दस्तावेजों और सांस्कृतिक विरासत से जुड़ी भाषा अक्सर प्रतीकात्मक महत्व रखती है और राजनीतिक गतिविधियों एवं व्याख्यानों में प्रयोग होती है। राजनीतिक करियर को आगे बढ़ाने या बौद्धिक और नीतिगत चर्चाओं में शामिल होने के लिए चर्चा/शिक्षा की भाषा में प्रवीणता अक्सर एक शर्त के रूप में देखी जाती है।

मुख्यधारा के मीडिया, राजनीतिक भाषणों और राजनीतिक नेताओं द्वारा सार्वजनिक व्याख्यानों में इस्तेमाल

की जाने वाली भाषा राजनीतिक सत्ता को आकार देती है। जनता के साथ प्रभावी वार्तालाप में अक्सर उस भाषा का प्रयोग करना शामिल होता है जो बहुमत से मेल खाती हो। भाषा से संबंधित सरकारी नीतियां, जिनमें भाषा को बढ़ावा देना, संरक्षण देना या तथाकथित थोपना इत्यादि शामिल है, राजनीतिक सत्ता पर महत्वपूर्ण प्रभाव डालती हैं। भाषा नियोजन से संबंधित राजनीतिक इच्छाशक्ति और निर्णय किसी समाज में भाषाई गतिशीलता को प्रभावित भी करते हैं। इसके अतिरिक्त, बहुसांस्कृतिक और बहुभाषी समाजों में, भाषाई विविधता के लिए सत्ता-साझाकरण व्यवस्था और विचार राजनीतिक संरचनाओं का अभिन्न अंग होते हैं। यद्यपि भाषा और राजनीतिक शक्ति के बीच परस्पर क्रिया जटिल है और विभिन्न भूगोलिक-राजनीतिक संदर्भों में इसके उदाहरण भी भिन्न हो सकते हैं।

हिंदी भाषा नीति और राजनीति

1947 में देश की आजादी के बाद से ही भारत में भाषा नीति और राजनीति में महत्वपूर्ण और कभी-कभी विवादास्पद मुद्दे आते रहे हैं। भारत एक भाषाई विविधता वाला देश है जिसके विशाल भू-भाग में सैकड़ों भाषाएँ/बोलिया बोली जाती हैं। हिंदी और अंग्रेजी राष्ट्रीय स्तर पर आधिकारिक भाषाएं हैं, और भारत में प्रत्येक राज्य को अपनी आधिकारिक भाषा नामित करने का अधिकार है। सविधान का अनुच्छेद 343 हिंदी को भारत सरकार की आधिकारिक भाषा के रूप में निर्दिष्ट करता है, और अनुच्छेद 351 एक समग्र भाषा के रूप में हिंदी के विकास, संस्कृत सहित विभिन्न स्रोतों से शब्दावली और व्याकरण तैयार करने का निर्देश देता है। आधिकारिक उद्देश्यों के लिए भी अंग्रेजी का प्रयोग जारी है और अक्सर केंद्र सरकार और राज्यों के बीच पत्राचार के लिए इसका उपयोग किया जाता है।

भारत में राज्यों को राज्य के भीतर प्रयोग के लिए अपनी आधिकारिक भाषा चुनने की स्वतंत्रता है। परिणामस्वरूप, विभिन्न राज्यों ने देश की भाषाई विविधता को दर्शाते हुए विभिन्न भाषाओं में से अपनी आधिकारिक भाषा के रूप में अपनाया है। उदाहरण के लिए, भारत के दक्षिणी भाग के राज्य मुख्य रूप से तमिल, तेलुगु, कन्नड़ और मलयालम जैसी भाषाओं को अपनी आधिकारिक भाषाओं के रूप में प्रयोग करते हैं। भारत की शिक्षा नीति तीन-भाषा फॉर्मूले को बढ़ावा देती है, जो सुझाव देती है कि विधार्थियों को तीन भाषाएँ सीखनी चाहिए : क्षेत्रीय भाषा, हिंदी और अंग्रेजी। हालाँकि, इस फॉर्मूले के कार्यान्वयन को चुनौतियों का सामना करना पड़ा है, खासकर उन राज्यों में जहाँ हिंदी प्राथमिक भाषा नहीं है।

1960 के दशक में, कुछ दक्षिणी राज्यों, विशेषकर तमिलनाडु में हिंदी विरोधी आंदोलन हुए, जहाँ लोगों ने हिंदी को अनिवार्य भाषा के रूप में लागू करने का विरोध किया। इन विरोधों की प्रतिक्रिया के रूप में, भारत सरकार ने अधिक लचीली भाषा नीति अपनाई, जिससे राज्यों को आधिकारिक उद्देश्यों के लिए अपनी क्षेत्रीय भाषाओं का प्रयोग जारी रखने की अनुमति मिल गई। भाषा संबंधी मुद्दे कुछ राज्यों में राजनीतिक आंदोलनों का हिस्सा रहे हैं, जहां भाषाई राज्यों की मांग उठाई गई है। नवीनतम उदाहरण के तौर पर, तेलंगाना और उत्तराखंड जैसे राज्यों के निर्माण में भाषाई विचारधारा भी एक कारक रहा है। भारत में भाषा सांस्कृतिक पहचान से गहराई से जुड़ी हुई है। किसी विशेष भाषा को तथाकथित थोपने के प्रयासों को कुछ समुदायों की सांस्कृतिक और भाषाई पहचान के लिए खतरे के रूप में देखा जाना बताया जाता रहा है।

वैसे तो भारत में भाषा नीति और राजनीति दोनों ही जटिल है और अक्सर सांस्कृतिक, क्षेत्रीय और ऐतिहासिक पहचान एवं परम्प्परा संबंधी विचारों से जुड़ी है। सरकार का लक्ष्य राष्ट्र की विशेषता वाली भाषाई विविधता की पहचान और संरक्षण के साथ संपर्क भाषा के रूप में हिंदी के प्रचार-प्रसार को संतुलित करना है। भाषा संबंधी मुद्दों को लेकर चल रही बातचीत और कभी-कभार होने वाले तनाव भारत के भाषाई परिदृश्य की जटिल प्रकृति को दर्शाते हैं जिसके चलते कुछ दल या समुह अपनी राजनीति चमकाने लगते है।

हिंदी भाषा सारांश की राजनीति

कई राजनीतिक नेता भाषणों और राजनीतिक अभियानों के दौरान जनता से जुड़ने के लिए प्राथमिक माध्यम के रूप में हिंदी का उपयोग करते हैं। हिंदी में भाषण देने से नेताओं को व्यापक दर्शकों तक पहुंचने में मदद मिलती है, क्योंकि भारत की आबादी का एक बड़ा हिस्सा हिंदी भाषा को समझता है। जनता को प्रभावित करने के लिए राजनीतिक नारे और संदेश अक्सर हिंदी में तैयार किए जाते हैं। हिंदी में दिए गए इन संदेशों का उद्देश्य जमीनी स्तर पर लोगों से जुड़ना और राजनीतिक विचार-धाराओं और एजेंडा को प्रभावी ढंग से जनता तक पहुंचाना है। हिंदी सिर्फ एक भाषा नहीं बल्कि एक संस्कृति का प्रतीक भी है और राजनीति में इसका उपयोग साझा सांस्कृतिक और भाषाई पहचान को बढ़ावा देने के व्यापक

विचार से जुड़ा है। सोशल मीडिया के उदय के साथ, राजनीतिक नेता दर्शकों से ऑनलाइन व्यापक स्तर पर जुड़ने के लिए हिंदी का उपयोग करते हैं। ट्विटर, फेसबुक और यूट्यूब जैसे प्लेटफार्मों का उपयोग राजनीतिक संदेशों को साझा करने के लिए किया जाता है, और इनमें से ज्यादातर संदेश हिंदी भाषी आबादी से जुड़ने के लिए हिंदी में ही तैयार किए जाते हैं।

हालाँकि, भारत भाषाई रूप से विविध है, और भाषाई विचार अक्सर राजनीतिक गतिशीलता में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। जबकि हिंदी भारतवर्ष की राजभाषा होने के साथ-साथ देश के जन-सामान्य की एक महत्वपूर्ण भाषा है, यद्यपि नेता और राजनीतिक दल विभिन्न राज्यों और क्षेत्रों में मतदाताओं से जुड़ने में क्षेत्रीय भाषाओं के महत्व को भी पहचानते हैं। भारत में सफल राजनीतिक एवं लोकतांत्रिक संचार के लिए एक व्यापक दृष्टिकोण की आवश्यकता है जो देश की भाषाई विविधता को स्वीकार करने के साथ-साथ इसका सम्मान भी करें।

हिंदी भाषा और राजनीतिक शक्ति के बीच संबंध

भारत में हिंदी भाषा और राजनीतिक शक्ति के बीच संबंध जटिल और बहुआयामी है। देश की प्रमुख भाषाओं में से एक होने के नाते, हिंदी ने ऐतिहासिक रूप से राजनीतिक आख्यानों, नीतियों और शासन को आकार देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। भारत के संविधान के अनुसार हिंदी को केंद्र सरकार के स्तर पर आधिकारिक भाषा का दर्जा प्राप्त है। यह मान्यता राजनीतिक सत्ता और शासन के साथ हिंदी के जुड़ाव को पुष्ट करती है, क्योंकि इसका उपयोग आधिकारिक पत्राचार, कानून और प्रशासनिक कार्यों में किया जाता है। हिंदी भाषा राष्ट्रीय एकता और अखंडता के प्रतीक के रूप में प्रस्तुत है जो भाषाई विविधताओं को पाट सकती है और भारत की विविधतापूर्ण आबादी के बीच एकता की भावना को बढ़ावा दे सकती है। इसके साथ-साथ राष्ट्रीय अस्मिता के साथ हिंदी भाषा का जुड़ाव राजनीतिक क्षेत्र में इसके महत्व को बढ़ाने में योगदान देता है।

संसदीय कार्यवाही, आधिकारिक दस्तावेजों और प्रशासनिक प्रक्रियाओं सहित केंद्र सरकार के कामकाज में हिंदी का बड़े पैमाने पर प्रयोग किया जाता है। अत: सरकार, नौकरशाही और राजनीतिक सत्ता के अन्य संस्थानों में प्रमुख पदों पर रहने के इच्छुक व्यक्तियों के लिए हिंदी में दक्षता हासिल करना आवश्यक हो जाता है। राजनीतिक अभियानों और सार्वजनिक संबोधनों के दौरान हिंदी में बोलने से राजनेताओं को एक बड़े दर्शक वर्ग से जुड़ने का मौका मिलता है, क्योंकि हिंदी भाषा को आबादी का एक बड़ा हिस्सा समझता है। समाचार पत्रों, टेलीविजन चैनलों और डिजिटल प्लेटफार्मो सहित मीडिया में हिंदी का व्यापक रूप से प्रयोग किया जाता है, जो जनमत को प्रभावित करने वाले शक्तिशाली कारक हैं। हिंदी भाषा मीडिया में राजनीतिक विमर्श आख्यानों को आकार देने और राजनीतिक धारणाओं को प्रभावित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है।

हिंदी भारत के सांस्कृतिक और ऐतिहासिक संदर्भ में गहराई से निहित है। राजनीतिक नेता अक्सर अपने भाषणों और संदेशों में सांस्कृतिक प्रतीकों और ऐतिहासिक संदर्भों का इस्तेमाल करते हैं, जिसमें हिंदी, राजनीतिक शक्ति और राष्ट्र की सांस्कृतिक विरासत के बीच सेतु का कार्य करती है। भारत में हिंदी भाषा और राजनीतिक शक्ति के बीच संबंध गतिशील है और कालान्तर से चली आ रही बहस और बातचीत का विषय भी। कुछ वर्ष पूर्व तक एक आम भाषा को बढ़ावा देने और देश की भाषाई विविधता का सम्मान करने के बीच नाजुक संतुलन राष्ट्रीय एकता और भारतीय राजनीति के लिए एक जटिल चुनौती बनी हुई थी पर अब इससे बर्फ पिघलने लगी है।

राजनीति में सफलता की गारंटी हिंदी भाषा

हिंदी जानने से एक राजनीतिक नेता को भारतीय आबादी के एक महत्वपूर्ण हिस्से के साथ प्रभावी ढंग से संवाद करने की सहुलियत मिलती है। हालाँकि, लोगों से जुड़ने की क्षमता भाषा से परे है और इसमें प्रभावी संचार कौशल, स्थानीय मुद्दों को समझना और विविध समुदायों की चिंताओं का समाधान प्रस्स्तुत करना शामिल है। हिंदी भारत में सबसे अधिक बोली जाने वाली भाषाओं में से एक है, और हिंदी में पारंगत नेता को व्यापक स्त्तर पर राष्ट्रीय दर्शकों तक पहुंचने में फायदा तो मिलता ही है साथ-साथ उसे राष्ट्रीय स्तर की राजनीति में इसका विशेष लाभ भी मिलता है। राष्ट्रीय स्तर पर विधायी और संसदीय कार्यवाही में भाग लेने वाले नेताओं के लिए हिंदी में दक्षता मूल्यवान साबित होती है। जहाँ आधिकारिक पत्राचार के लिए हिंदी का प्रयोग किया जाता है, वहीं हिंदी भाषा का ज्ञान बहस और चर्चाओं में प्रभावी भागीदारी की गारंटी भी प्रदान करता है। जो नेता हिंदी के साथ सहज हैं, वे हिंदी मीडिया के साथ अधिक प्रभावी ढंग से जुड़ सकते हैं और अधिकाधिक दर्शकों तक पहुँच सकते हैं।

हिंदी को समझना सांस्कृतिक संवेदनशीलता में

योगदान देता है, क्योंकि भाषा अक्सर सांस्कृतिक बारीकियों से जुड़ी होती है। एक नेता जो हिंदी सांस्कृतिक संदर्भों से परिचित है, वह सांस्कृतिक स्तर पर लोगों से जुड़ने के लिए बेहतर स्थिति में होता है। तथापि एक राजनीतिक नेता की सफलता उनके नीतिगत निर्णयों और लोगों की जरूरतों को पूरा करने में उसके प्रदर्शन से गहराई से जुड़ी होने के बावजूद भी हिंदी जानना भारत में राजनीतिक नेताओं के लिए एक संपत्ति से कम नहीं है। राजनीति में सफलता विभिन्न कारकों की एक जटिल परस्पर क्रिया तो है ही, फिर भी राजनीतिक नेताओं को जनता का समर्थन हासिल करने और अपने राजनीतिक करियर में सफल होने के लिए भाषाई विविधता को नेविगेट करते हुए, क्षेत्रीय गतिशीलता को समझने और प्रभावी नेतृत्व गुणों का प्रदर्शन करने की आवश्यकता के साथ-साथ हिंदी भाषा के भरपूर ज्ञान को अर्जित करने का प्रयत्न करना चाहिए।

निष्कर्ष

भारतीय राजनीति को आकार देने में हिंदी भाषा की भूमिका देश के सामाजिक-राजनीतिक ताने-बाने का एक गतिशील और जटिल पहलू है। हिंदी के ऐतिहासिक महत्व ने, विशेषकर स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान राजनीतिक परिदृश्य में इसकी प्रमुखता की नींव रखी। देश की आधिकारिक भाषाओं में से एक के रूप में, हिंदी ने आधिकारिक पत्राचार, संसदीय कार्यवाही और राजनीतिक अभियानों में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। राजनीतिक विचाार-विमर्श के माध्यम के रूप में हिंदी का उपयोग इसके भाषाई कार्य से आगे बढ़कर राष्ट्रीय पहचान और एकता का प्रतीक बन जाता है। राजनीतिक नेता इसकी व्यापक पहुँच और प्रभाव का लाभ उठाते हुए, अधिकतम आबादी से जुड़ने के लिए रणनीतिक रूप से हिंदी का प्रयोग करते हैं। मीडिया, हिंदी के व्यापक उपयोग के साथ जनमत और राजनीतिक आख्यानों को आकार देने में महत्वपूर्ण योगदान देता है।

हालाँकि, हिंदी का प्रचार-प्रसार चुनौतियों से रहित नहीं है। भारत की भाषाई विविधता, देश भर में बोली जाने वाली कई भाषाओं के साथ, क्षेत्रीय पहचान के लिए समावेशिता और सम्मान सुनिश्चित करने के लिए एक व्यापक दृष्टिकोण की आवश्यकता है। विभिन्न क्षेत्रों में हिंदी के लिए प्रतिरोध और समर्थन उस नाजुक संतुलन को उजागर करता है जिसे नीति निर्माताओं द्वारा गहन अध्ययन तथा आपसी बातचीत से सुलझाया/सुनिश्चित किया गया है। भारतीय राजनीति में हिंदी भाषा के भविष्य की भूमिका बदलती हुई जनसांख्यिकी, तकनीकी प्रगति और सामाजिक-राजनीतिक विकास के साथ विकसित होने की भरपूर संभावना विद्यमान है। आने वाले समय में हिंदी भाषा राजनीतिक परिक्षेत्र, शिक्षा और राष्ट्रीय एकता के लिए एक अमोघ शक्ति तथा ताकतवर हथियार बनके उभरेगी। भाषाई विविधता के संरक्षण के साथ हिंदी के प्रचार-प्रसार को संतुलित करना भी नीति निर्माताओं के लिए एक प्रमुख तार्किक विषय है। भारतीय राजनीति में हिंदी भाषा की भूमिका राष्ट्रीय एकता और विविधता के बीच एक जटिल अंतरसंबंध को दर्शाती है, जो कि एक एकीकृत शक्ति और पहचान के स्रोत दोनों के रूप में कार्य करती है। जैसे-जैसे राष्ट्र प्रगति कर रहा है, समावेशी राजनीतिक जुड़ाव और प्रतिनिधित्व को बढ़ावा देने के लिए हिंदी की बहुमुखी भूमिका को समझना और संबोधित करना और भी महत्वपूर्ण हो गया है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

* भारतीय राजनीतिक चिंतन, उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी, वैबसाईट-http://uou.ac.in
* भारतीय राजनीति में भाषा की भूमिका, प्रो. शशि शर्मा
* भाषा शिक्षण, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्
* हिंदी भाषा शिक्षण, डॉ. अश्वनी, मौलाना आजाद नेशनल उर्दू यूनिवर्सिटी, हैदराबाद
* भारतीय राजनीति में भाषा की भूमिका : एक अध्ययन, मीता सिंह
* भाषा और अभिव्यक्ति, केंद्रीय हिंदी निदेशालय, मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार, दिल्ली
* राजनीति की भाषा या भाषा की राजनीति, डॉ. सुरेश पंत
* चुनिंदा भाषणों का खंड-2, डॉ. प्रणब मुखर्जी
* नमस्कार का चमत्कार भारतीय राजनीति के कड़वे सत्य-निश्चित सफल नेता बनने के गुण, युद्धवीर सिंह
* भारत का संविधान-सिद्धांत और व्यवहार, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्
* भाषा की राजनीति, राजनीति की भाषा, दैनिक भास्कर

डॉ. सुमन यादव

एसोसिएट प्रोफेसर (राजनीति विज्ञान)

शहीद भगत सिंह इवनिंग कॉलेज

शेख सराय फेज-2, नई दिल्ली 110017

साहित्य, कला, संस्कृति और वर्चस्ववाद

– राहुल कुमार यादव

आजादी के बाद भारतीय लोकतंत्र ने ललित कला के जिस स्वरूप को प्रोत्साहित किया है, वह भयंकर रूप से जातिगत श्रेष्ठताबोध से ग्रसित है। ललित कला के अंतर्गत नृत्य, संगीत और रंगमंच इत्यादि कलाएँ आती हैं। आपने देखा होगा कि कला और साहित्य के क्षेत्र से राज्यसभा के लिए चुने जाने वाले प्रत्याशियों में अधिकांशत: अभिजन समुदाय के लोग ही होते हैं। इसका मतलब यह नहीं है कि देश के निम्नवर्गीय लोगों को कला के बारे में कुछ पता ही नहीं है। आप जानते होंगे कि इसी देश के आदिवासियों के नृत्य और संगीत का उद्देश्य ही है 'जे नाची से बार्ची'। उनके जीवन का पूरा अस्तित्व ही नृत्य और संगीत के दर्शन पर आधारित है। ललित कला या प्रदर्शन कलाओं का गहराई से अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि यह भयंकर रूप से ऊँच-नीच के भेदभाव से ग्रसित है। इसमें लोक कलाकारों की अपेक्षा शास्त्रीय कलाकारों को वरीयता दी जाती है। एक तरह से यह तय है कि कुलीन संस्कृति ही भारतीय संस्कृति का पर्याय है। यही तय करते हैं कि जनता की रुचि-अभिरुचि क्या होगी। मार्क्स भी लिखते हैं कि "सत्ताधारी वर्ग के विचार हर युग में सत्ताधारी विचार हुआ करते हैं अर्थात् जो वर्ग समाज की सत्ताधारी भौतिक शक्ति होता है, वह साथ ही उसकी सत्ताधारी बौद्धिक शक्ति भी होता है। जिस वर्ग के पास भौतिक उत्पादन के साधन होते हैं, उसका साथ ही साथ बौद्धिक उत्पादन पर भी नियंत्रण रहता है और इस तरह साधारणतया जिन लोगों के पास बौद्धिक उत्पादन के साधन नहीं होते, उनके विचार इस वर्ग के अधीन रखे जाते हैं। सत्ताधारी विचार प्रभुत्वशाली भौतिक सम्बन्धों की, यानी विचारों के रूप में ग्रहण किये जानेवाले प्रभुत्वशाली भौतिक सम्बन्धों की बौद्धिक अभिव्यक्ति के अलावा और कुछ नहीं होते; अत: वे उन सम्बन्धों की अभिव्यक्ति हैं, जो एक वर्ग को सत्ताधारी बनाते हैं; इसलिए वे उसके प्रभुत्व के विचार हुआ करते हैं।"[1]

शास्त्रीय कलाएँ सामूहिकता की विरोधी होती हैं। क्योंकि शास्त्रीय कलाओं का जो स्वरूप है उसमें व्यक्तिगत कलाकारों को ही ज्यादा तवज्जो दिया जाता है। लोक कलाओं की अपेक्षा शास्त्रीय कलाओं को वैधता इसलिए भी दे दी जाती है क्योंकि शास्त्रीय कलाओं का अपना लिखित रूप मौजूद है। यह सांस्कृतिक वर्चस्व की ही बात है कि जहाँ एक तरफ कुल और लोक के देवी-देवताओं से जुड़े हुए विश्वास को टोना-टोटका और भूत-प्रेत से जोड़ दिया जाता है तो वहीं दूसरी तरफ शैव-वैष्णव के देवी-देवताओं की प्रार्थना एवं विश्वास को आस्था एवं धर्म का विषय बना दिया जाता है। हालाँकि दोनों जगह कर्मकाण्ड है पर यहाँ भी लोक कलाओं पर शास्त्रीय कलाएँ हावी हैं।

कला को बरतने का यह नजरिया कितना दूषित है कि जहाँ एक तरफ नृत्य के पेशे से जुड़े हुए लोक कलाकारों को यह नचनियाँ-बजनियाँ कहता है तो वहीं दूसरी तरफ शास्त्रीय कलाओं को सम्मानित और प्रोत्साहित करता है। जो समुदाय जितना अधिक नृत्य करता है वह उतना ही शोषित होता है और उसे हेय नजर से देखा जाता है। उदाहरण के रूप में गीत-संगीत और नृत्य से जुड़े हुए दलित-पिछड़े और आदिवासी समुदाय से आने वाले लोक कलाकारों को देख सकते हैं। क्योंकि एक ही तरह का पेशा नृत्य-संगीत एक समुदाय को जहाँ दासता की तरफ ढकेलता है तो वहीं दूसरी तरफ के लोगों को वह सम्मानित करता है। अधिकांशत: यह देखा गया है कि गीत-संगीत और नृत्य को जब भी औद्योगिक स्वरूप दिया जाने लगता है तब इन कलाओं से जुड़े हुए निम्नवर्गीय समुदायों को हाशिए पर ढकेल दिया जाता है। पूर्व औद्योगिक या मध्यकालीन समाज में लोकनृत्य, गायन और बाजीगरी सामान्य जनता के मनोरंजन के प्रमुख

साधन होते थे। गंगा यमुना के दोआब क्षेत्र में सामान्य जन अक्सर संध्या के समय आल्हा खण्ड और नल दमयंती की कथा को गाकर अपना मनोरंजन करते थे। नट और बाजीगर अक्सर पशुओं की सहायता से खेल दिखाकर लोगों का मनोरंजन करते थे। भांड और विदुषक विलक्षण अभिनय और व्यंग्यक्तियों के लिए तो प्रसिद्ध थे ही। लेकिन जैसे-जैसे समय व्यतीत होता गया ''नृत्यकला और संगीत का भी पतन हो रहा था, क्योंकि उनकी एक अलग जाति निर्मित कर दी गई थी जिसका कार्य उच्च वर्गों के मनोविनोद और धर्मों की सेवा तक सीमित कर दिया गया था।''[2] यह पूरी दुनिया में हुआ है। यही काम भारत में व्यापक तौर पर आजादी के बाद हुआ। जब यह लाभ की चीज होने लगी तब इसे अभिजन लोगों ने हड़प लिया। जब सिनेमा की शुरुआत हुई तब फिल्मों में स्त्री पात्रों का अभिनय या तो पुरुष करते थे या निम्न समुदाय से आई हुई स्त्रियाँ। अभिजात्य वर्ग नृत्य और गीत-संगीत को शरीफ लोगों का काम नहीं मानते थे। 'सिनेमा सप्तक' में अनिरुद्ध शर्मा लिखते हैं कि ''किसी जमाने में फिल्मों को बहुत नीची नजरों से देखा जाता था और इसमें काम करने वाले कलाकारों को भी, फिर चाहे वो अभिनेता हो या गायक या संगीतकार।''[3] बाद में जब इस सिनेमा का औद्योगिकीकरण हुआ तो इसे अभिजनों ने हथिया लिया। क्योंकि विज्ञान और तकनीक के साथ-साथ पूँजी पर उनका एकाधिकार था। एजाज अहमद एक जगह लिखते हैं कि ''कुछ लोग सिर्फ कलात्मक चीजों में ही सृजनशीलता देखते हैं और कला में भी 'हाई आर्ट' और 'फोक आर्ट' जैसे फर्क करते हैं। ऐसे लोग गरीब, अनपढ़, देहाती या आदिवासी लोगों की कला को नीची नजर से देखते हैं। यानी गरीब आदमी जो करे, अपने लिए करे, वह 'फोक आर्ट' हुआ। लेकिन वही गरीब आदमी अगर आपके सामने आकर गिटार बजाने लगे, तो वह 'हाई आर्ट' हो गया! असल बात यह है कि जिस वर्ग के पास फुर्सत होती है, वह गरीब लोगों के द्वारा आविष्कृत और सदियों से तरह-तरह से इस्तेमाल किए जाने वाले कलात्मक रूपों के ही तत्त्वों को ही विकसित करता है और फिर उन्हें बाजार में बेचता है। इस तरह से विकसित करके बेचे जाने वाले बहुत-से लोकगीत, लोकसंगीत और लोकनृत्य आपको व्यावसायिक सिनेमा में दिखायी देते हैं।''[4]

औद्योगिकीकरण के फलस्वरूप अभिजात्य वर्ग का उत्पादन के साधनों पर एकाधिकार बरकरार रहा। क्योंकि उनकी जीवनचर्या ऐसी थी कि उनके पास पर्याप्त समय बचता था। इसलिए उन्होंने कला को देखने का जो मानदंड तय किया वह यह है कि जिसके पास समय ज्यादा रहेगा वही कला की निर्मिति करेगा। यह एक तरह से संकेत है कि कला का निर्माण अभिजात्य वर्ग ही करता है क्योंकि उसी के पास ज्यादा समय होता है। लेकिन यह बात अपने मूल ढाँचे में ही गलत है। अंतोनियो ग्राम्शी का मानना है कि ''शारीरिक काम चाहे कितना भी हीन और यांत्रिक क्यों न हो उसमें एक अल्पतम तकनीकी योग्यता, यानी एक अल्पतम रचनात्मक बौद्धिक क्रिया निहित रहती है। हमने पहले भी बताया है कि उद्यमी अपने कामकाज के बूते पर ही कुछ हद तक कुछ बौद्धिक योग्यताएं रखता ही है। यह बात दीगर है कि समाज में उसकी भूमिका इसके द्वारा निश्चित नहीं होती।''[5]

सृजनशीलता के लिए अलग से समय की माँग दरअसल पूँजीपति वर्ग के बुद्धिजीवियों का विचार है। श्रमिक वर्ग की सृजनशीलता श्रम के दौरान ही होती है। एजाज अहमद का मानना है कि ''सृजनशीलता के बारे में पहली और बुनियादी बात यह है कि वह हमेशा सामाजिक होती है।''[6] इसे 'झीनी-झीनी बीनी चदरिया' के निम्नलिखित उदाहरण से समझा जा सकता है जिसमें अब्दुल बिस्मिल्लाह ने श्रम के दौरान सृजनशीलता का एक अद्‌भूत बिम्ब गढ़ा है ''मतीन के पाँव नीचे चल रहे हैं, हाथ ऊपर चल रहे हैं। पूरा शरीर जैसे संगीत के किसी ताल में निबद्ध होकर लयात्मक हो गया है। ढरकी इस तरह नाच रही है जैसे जंगल में कोई गिलहरी फुदके। मतीन बड़ी फूर्ती के साथ पहले हरे रंग का धागा खींचता है और तानी पर हरे रंग की एक लकीर खिंच जाती है। फिर क्रमश: लाल और सुनहरे रंग का धागा वह खींचता है और तानी पर लाल-सुनहरी लकीरें खिंच जाती हैं। देखते-ही-देखते साड़ी पर एक खूबसूरत-सा फूल खिल उठता है। मतीन थोड़ी देर तक रुकता है और फिर शुरू हो जाता है। करघे से खटाखुट... खटाखुट... खटाखुट... खटाखुट की आवाज उठने लगती है। पहले धीरे-धीरे, फिर मध्यम से होते हुए पंचम और फिर सप्तम पर पहुँच जाती है। जैसे कोई तबलावादक-पहले तबले को ठोंककर कसे, फिर उसकी आवाज आजमाये और फिर गाने के साथ अपनी संगत शुरू कर दे। साड़ी की बुनावट में रचना और संगीत की लयें इस तरह उभरती हैं कि सर्जक की

चेतना एकाग्र होकर शून्य हो जाती है।''[7]

मराठी में एक कहावत कही जाती है कि ऊँची जाति के लोगों के पास इल्म होता है, किसानों के पास अनाज, लेकिन अछूतों के पास उनके गीत होते हैं। लेकिन दिक्कत यह है कि जब भी कला, साहित्य और संस्कृति की बात होती है तो दलित-पिछड़ों के साहित्य, कला और संस्कृति को उपेक्षित कर दिया जाता है। मुख्यधारा के साहित्य और कला में अभिजात्यवर्गीय साहित्य और कला को ही गिना जाता है। जब हम कला के इतिहास का अध्ययन करते हैं तो पाते हैं कि दलित-पिछड़ों की कुछ जातियाँ ऐसी हैं जिनका पेशा ही गीत, संगीत और नृत्य पर आधारित होता है। लेकिन जब कला और साहित्य की बात होती है या उसका इतिहास लिखा जाता है तो उसमें से यह सब जातियाँ नदारद हो जाती हैं। ऐसी ही एक जाति 'पमरिया' है। इनका पेशा अपने जजमानों के यहाँ पैदा हुए बच्चों के लिए बधाई गीत गाना है। डॉ. अयुब राईन अपनी किताब 'पमरिया' में इस समुदाय के बारे में लिखते हैं कि ''पमरिया जाति एक पेशेवर जाती है जो धार्मिक भेद से ऊपर किसी भी परिवार में पुत्र के जन्म के समय जाकर गीत गाते और नाचते हैं। गाने की इस क्रिया को पमारा कहा जाता है और पमारा गाने वाले को पमार कहा जाता है। जो बाद के दिनों में पमार से पमरिया बना।''[8]

आजादी के बाद लिखे गए हिन्दी उपन्यासों में मुस्लिम समाज के अंत:सम्बन्ध और उसके अंतर्विरोध खुलकर सामने आये हैं। चाहे वह राही मासूम रजा हों, बदीउज्जमा हों या फिर अब्दुल बिस्मिल्लाह। इन सबके उपन्यासों में मुस्लिम समाज का स्तरीकरण और उनके भीतर व्याप्त जातिगत भेदभाव देखने को मिलते हैं। 'आधा गाँव' हो या 'छाको की वापसी' या 'झीनी-झीनी बीनी चदरिया' इन उपन्यासों में जहाँ एक तरफ राकी, भर, चमार, हज्जाम, दर्जी और जुलाहा आदि निम्नवर्गीय मुसलमान संघर्ष करते हुए दिखाये गये हैं तो वहीं दूसरी तरफ ठाकुर, पठान, सैयद जैसे ऊँची जातियों के मुसलमान जो अपने श्रेष्ठताबोध के मिथ्याभिमान में अकड़ते हुए देखे जा सकते हैं। भारत में जब इस्लाम आया तो उसने अपने मसावात के सिद्धांत का बहुत जोर-शोर से प्रचार-प्रसार किया। हिन्दू धर्म की निचली जातियाँ जो जातिव्यवस्था से उत्पीड़ित थीं, उनके लिए धर्मान्तरण करने का यह एक अवसर था। जातिव्यवस्था से उत्पीड़ित हिन्दू धर्म त्यागकर जो निचली जातियाँ मुसलमान बनीं वे अपने साथ अपना पेशा भी लेकर गयीं। जिसके चलते इस्लाम में भी उनके साथ भेदभाव बरकरार रहा। वैसे किसी भी धर्म में धर्मान्तरित नये समुदायों के साथ उस धर्म के पुराने अनुयायी भेदभाव की भावना रखते ही हैं। 'समर शेष है' उपन्यास में अब्दुल बिस्मिल्लाह ने इस ऐतिहासिक घटनाक्रम को बहुत बेबाक ढंग से व्यक्त किया है ''मुसलमान जब इस देश में आए तो यहाँ के भोले-भाले लोगों को उन्होंने बरगलाया। जाति-प्रथा के कोढ़ से ग्रस्त लोगों को इस्लामी मसावात (समतावाद) की तकरीर पिलाई गई और समाज में बराबरी का दर्जा पाने के लिए वे मुसलमान हो गए। लेकिन मसावात कुरआन और हदीस की किताबों से बाहर नहीं निकला। मुसलमानों में भी जातियाँ और उपजातियाँ बन गईं। हिन्दू समाज में जो नाई था, वह मुस्लिम समाज में भी नाई ही रहा। सिर्फ वह रामप्रसाद की जगह रहमान हो गया। हिंदुइया नाऊ बदला तो मुसलमनिया नाऊ बन गया। ठाकुर सब पठान हो गए। जो ब्राह्मण बदले, वे सैयद हो गए। ऊँच-नीच का भेद बना रहा।''[9] उपर्युक्त संदर्भ से यह ध्वनित होता है कि इस्लाम में जातियों का प्रवेश धर्मांतरण से हुआ है। जबकि यह अधूरा सच है। कुछ जातियाँ ऐसी भी हैं जो पहले से ही मुस्लिम समाज में हैं। जैसे दीवान, फकीर, ईटफरोश, सिकलगर, चूड़ीहार, गदहेड़ी, नालबंद, ईदपज, रंगरेज, बंदूकची इत्यादि।

इटली के मार्क्सवादी विचारक एंटोनियो ग्राम्शी ने सांस्कृतिक वर्चस्व (Cultural Hegemony) का सिद्धांत प्रस्तुत किया। पारंपरिक मार्क्सवाद जिसका मानना था कि उत्पादन शक्तियों के चरम विकास के बाद प्रचलित उत्पादन संबंध उन्हें संभाल नहीं पाते हैं जिसके बाद क्रांति हो जाती है। जबकि ग्राम्शी का मानना है कि उन्नत पूँजीवादी समाज में ऐसा नहीं होता है। इसलिए पारंपरिक मार्क्सवाद के विपरीत उसका नवीनीकरण करते हुए ग्राम्शी ने सांस्कृतिक अधिनायकवाद सिद्धांत का प्रतिपादन किया। जिसकी व्याख्या करते हुए ग्राम्शी का कहना है कि सत्ता ने अपने हितों के मूल्यों और मान्यताओं को परिवार, धार्मिक और शैक्षणिक संस्थाओं तथा अन्य माध्यमों से प्रचार-प्रसार करके सबके लिए योग्य और हितकर बताकर उनका जनसमर्थन प्राप्त कर लिया है। ग्राम्शी का विचार है कि आधुनिक पूँजीवाद के मजबूत होते जाने की मुख्य वजह सांस्कृतिक अधिनायकवाद है। जो नागरिक समाज की संस्थाओं परिवार, धर्म और शिक्षा इत्यादि के द्वारा

आम जनमानस से अपने मूल्य प्रणाली को मनवा लेता है। इसलिए परिवर्तनकारी शक्तियों को अर्थशास्त्र विमर्श के मोह से निकलकर नागरिक समाज के भीतर की संस्थाओं में घुसपैठ करके आम जनमानस की चेतना को अपने अनुकूल बदलना होगा जिससे क्रांति की लड़ाई को मजबूत आधार मिल सके।

मार्क्स-एंगेल्स के साथ-साथ लेनिन ने भी समाजवाद का लक्ष्य प्राप्त करने के लिए राजनीतिक समाज पर अधिक ध्यान दिया। जबकि ग्राम्शी नागरिक समाज को अधिक महत्वपूर्ण मानते हैं। उनका कहना है कि नागरिक समाज पर अपना आधिपत्य बनाये बगैर राजनीतिक समाज के द्वारा प्राप्त की गई क्रांति स्थाई नहीं हो सकती। क्योंकि राजनीतिक समाज की अपेक्षा नागरिक समाज एक ऐसी संरचना है जो आम जनमानस पर अपना गहरा प्रभाव डालती है। भारतीय समाज में नागरिक समाज की संकल्पना का श्रेय डॉ. अंबेडकर को दिया जाना चाहिए। क्योंकि डॉ. अंबेडकर ने ही सबसे पहले भारतीय मार्क्सवादियों को यह चेताया था कि जातिव्यवस्था को समझे बगैर वे अपने लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकते। उनका मानना था कि ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन से आजादी का मतलब यह नहीं है कि भारत में सामाजिक क्रांति हो गई। भारत की वास्तविक समस्या उसके समाज के इतिहास में छिपी हुई है। जाति व्यवस्था ने न केवल भारत के आर्थिक क्षेत्रों को प्रभावित किया है बल्कि उसका गहरा संबंध सामाजिक व्यवस्था से भी है। भारत में सामाजिक क्रांति का मतलब है जाति व्यवस्था को समझना और उसका समाधान करना जिसने सभी भारतीयों के आस्था, विश्वास, व्यवहार, मान्यताओं और नैतिकताओं को प्रभावित किया है।

भारत में नागरिक समाज की संकल्पना का प्रारंभ 19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में हुआ जब ईसाईयत या पश्चिमी मूल्यों से प्रभावित भारत का एक बनता हुआ बुद्धिजीवी वर्ग उभरकर सामने आया। यह बुद्धिजीवी वर्ग औपनिवेशिक शासन के विरुद्ध खुलकर राजनीतिक चर्चा करने की बजाय सांस्कृतिक मुद्दों पर अपने विचार प्रकट करते हुए सामने आता है। यही कारण है कि भारत में एक संगठित राजनीतिक मंच बनने से पहले तमाम सामाजिक सुधार मंच बनने शुरू हो गए थे। वह चाहे बंगाल का 'ब्रह्म समाज' हो, गुजरात का 'आर्य समाज' हो या महाराष्ट्र का 'सत्यशोधक समाज'। इन्हीं सांस्कृतिक विमर्शों में आगे चलकर जाति का विमर्श भी जुड़ गया। हम देख रहे हैं कि आधुनिक भारत में राजनीतिक समाज की अपेक्षा नागरिक समाज की राजनीति की शुरुआत पहले हुई। बीसवीं शताब्दी के आरंभ में जब स्वाधीनता आंदोलन अपना जोर पकड़ने लगा तो नागरिक समाज और राजनीतिक समाज की राजनीति में प्रतिस्पर्धा शुरू हुई और उसमें राजनीतिक समाज की राजनीति आगे निकल गयी। आगे चलकर राष्ट्रवादी विचारधारा के समर्थक नागरिक राजनीति को ब्रिटिश समर्थक या राष्ट्र विरोधी बताने लगे। ऐतिहासिक कारणों से जब हम राष्ट्रवादी विचारधारा के समर्थकों द्वारा नागरिक राजनीति पर लगाये गये इस आरोप की पड़ताल करते हैं तो यह बेबुनियाद साबित होती है। ऐतिहासिक कारणों से भारत में दो तरह की राजनीति हमेशा से रही है। जहाँ नागरिक समाज की राजनीति भारत में जातिभेद विरोधी राजनीति से जुड़ती है तो वहीं दूसरी तरफ राष्ट्रवादी विचारधारा के समर्थकों ने अपनी राजनीति को राजनीतिक समाज तक सीमित रखा। राष्ट्रवादी विचारधारा जहाँ अपने आपको औपनिवेशिक शासन से मुक्ति तक सीमित रखती है तो वहीं दूसरी तरफ नागरिक समाज की राजनीति जातिभेद जैसे भयंकर समस्या से टकराने का साहस दिखाती है। इसी मायने में डॉ. अंबेडकर के नागरिक समाज का विमर्श राष्ट्रवादी विचारधारा के विमर्श से ज्यादा प्रासंगिक साबित होता है। वे कहते हैं कि जातिवादी समाज हर उस सीमा तक व्यक्ति को उत्पीड़ित कर सकती है जिस सीमा तक कोई सरकार या राज्य करती है। जो साधन और अवसर राजनीतिक समाज के पास उपलब्ध होते हैं उससे कहीं अधिक साधन और अवसर नागरिक समाज के पास होते हैं। समाज के नैतिक अंतरात्मा के अलावा व्यक्ति के मौलिक अधिकारों की सुरक्षा कोई भी कानून, संसद या न्यायालय नहीं कर सकता।

जातिव्यवस्था और उनको संरक्षण प्रदान करने वाले हिन्दू धर्मग्रंथों के वर्चस्व को पहचानने वाले पहले व्यक्ति डॉ. अंबेडकर थे। डॉ. अंबेडकर ऐसे समय में हिन्दू धर्मग्रंथों की आलोचना कर रहे थे जब कुछ पश्चिम विद्वान् और उनसे प्रभावित भारतीय विद्वान् हिन्दूधर्म ग्रंथों के आध्यात्मिक विषयों की प्रशंसा कर रहे थे। हिन्दू धर्म जातिव्यवस्था के बाद प्रकाश में आया या कह सकते हैं कि जातिव्यवस्था हिन्दू धर्म ग्रंथों का मूल है। इसीलिए हिन्दू धर्म का त्याग किए बगैर जाति को नष्ट करना मुश्किल है। हिन्दू धर्मग्रंथों से केवल ऊँची जातियों के

हित की पुष्टि होती है। इसी आधार पर इस्लाम धर्म पर भी विचार किया जा सकता है। वैसे इस्लाम के धार्मिक ग्रंथों में जाति-नस्ल के आधार पर भेदभाव का निषेध ही किया गया है पर व्यवहारिक स्तर पर यह इस्लाम के अनुयायियों में विद्यमान है। इस्लाम धर्म का प्रचार-प्रसार करने वाले तमाम संस्थाओं में ऊँची जाति के मुसलमानों का ही वर्चस्व है। उन्हीं के द्वारा की गई इस्लाम के व्याख्याओं का लोग अनुपालन करते हैं। मसावात के चक्कर में जिन्होंने इस्लाम कुबूल किया उनके साथ ऊँची जाति के मुसलमान भेदभाव बरतते हैं।

यह सच है कि जब भी सांस्कृतिक चेतना के अभाव में वंचित तबकों के पास पूँजी आती है तो वर्गीय दृष्टि से अपने आप को श्रेष्ठ बनाने के लिए उन्हीं सांस्कृतिक प्रतीकों को चुनता है जो उसका शोषण करती आयी है। ऐसे में मार्क्स के सामाजिक परिवर्तन के उस लक्ष्य में बाधा पड़ती है जिसका मूल अर्थव्यवस्था के सिद्धांत पर आधारित है। यही कारण है कि 'आधा गाँव' में वे राकी तथा जुलाहे जो ''इतने दौलतमंद हैं कि जब चाहें, खड़े-खड़े पूरे गाँव को खरीद लें...''[10] लेकिन वे चेतना के अभाव में सैय्यदों का सांस्कृतिक गुलामी करने से बाज नहीं आते हैं ''चूँकि दक्खिन-पट्टी वाले गंगौली के पुराने जमींदार थे, इसलिए वे अपने ताजिया खुद नहीं सजाया करते थे। बड़ा ताजिया राकी सजाते थे। कोई ताजिया जुलाहों के इंतजाम में था और कोई हज्जामों के।''[11] आखिर ऐसा क्यों है कि जिस भारतीय समाज की साझी संस्कृति और सांप्रदायिक सौहार्द की बात की जाती है उसमें दलित-पिछड़ों और पसमांदाओं के हिस्से केवल मन्नतें, प्रार्थनाएँ और आशीर्वाद ही आते हैं। वह क्यों नहीं किसी संप्रदाय या धार्मिक संस्थानों के महत्वपूर्ण पदों पर होते हैं। मुहर्रम जो मुस्लिम समाज में गम का त्यौहार माना जाता है। 'आधा गाँव' उपन्यास में मुहर्रम के ताजिए का एक दृश्य देखिए जिसमें हिन्दू-मुस्लिम समुदाय से आने वाले दलित-पिछड़ों की भूमिका भक्त और अनुयायी से बढ़कर कुछ नहीं है ''पीछे हजार-पाँच सौ आदमियों की भीड़ होती। औरतें बच्चों को बड़े ताजिये के नीचे से निकालतीं। मन्नतें मानतीं। जारी पढ़तीं और शरबत चढ़ातीं। ये औरतें सैदानियाँ नहीं हुआ करती थीं। क्योंकि सैदानियाँ तो डोली बिना घर से निकल ही नहीं सकती थीं। ये तो गाँव की राकनिं, जुलाहिनें, अहिरनें और चमाइनें होती थीं। बड़ा ताजिया उनसे, उनकी मन्नतों और जारी की दर्द-भरी धुन से बेपरवाह किसी गजगामिनी या किसी सम्राट् की तरह आगे बढ़ता चला जाता।''[12]

अधिकांशत: पूँजीवादी संस्कृति के मूल्य धर्म से जुड़े हुए होते हैं। इसलिए हम देखते हैं कि वर्चस्ववादी संस्कृतियों की व्याख्यायें अक्सर धार्मिक रीति-रिवाजों से संबंधित होते हैं। आर्थिक आधार पर समाज में गरीबी तथा अमीरी के बीच चाहे जितनी भी दूरियाँ हो किन्तु धार्मिक आधार पर यह दूरियाँ अत्यंत कम दिखाई पड़ती हैं। किसी भी मजहब या संप्रदाय में दलित-पिछड़ों की ऊँचे पदों पर उपस्थिति स्वीकार्य नहीं है। यह स्वीकार्यता केवल धार्मिक कर्मकाण्ड में ही देखने को मिलती है। धार्मिक कर्मकाण्ड में समानता उनको सामाजिक आर्थिक पहलुओं पर बराबरी के अधिकार से विमुख बनाये रखती है। चूँकि बड़े समूह को पहले से ही धार्मिक उपासना की स्वतंत्रता मिली हुई है इसलिए वह व्यक्ति या समूह अपने गरीबी और उत्पीड़न को अपनी नियति मान बैठता है। 'आधा गाँव' में चमार, भर और जुलाहों की कुछ ऐसी ही स्थिति है ''तीन-दरे के जिस हिस्से में फर्श नहीं था, उसमें जुलाहे बैठे हुए थे। चमारों और भरों के लड़के प्रसाद के लालच में तीन-दरे के बाहर जमीन पर उकड़ूँ बैठे आपस में लड़ रहे थे।''[13] 'झीनी-झीनी बीनी चदरिया' उपन्यास बनारस के साड़ी बुनकरों को केंद्र में रखकर लिखा गया है। उपन्यास में एक तरफ श्रमिक वर्ग से ताल्लुक रखने वाले बुनकर हैं तो दूसरी तरफ पूँजीपति गिरस्ता। उपन्यास में जहाँ एक तरफ बेहद मुफलिसी में जीवन गुजार रहे बुनकरों के सुख-दुख, आशा-आकांक्षा और संघर्ष का चित्रण है तो वहीं दूसरी तरफ इनके श्रम के शोषण पर दिन-रात फल-फूल रहे पूँजीपति गिरस्तों का। जैसे 'गोदान' में होरी गाय की लालसा पाले हुये अन्तत: अपने प्राण त्याग देता है वैसे ही 'झीनी-झीनी बीनी चदरिया' में अभाव और बीमारी की जिंदगी जीते हुये मतीन की पत्नी अलीमुन लाल-हरी सुनहरी बूटियोंवाली साड़ी पहनने की इच्छा लिए हुए इस दुनिया से बिदा हो लेती है। जिसका पति मतीन साड़ियाँ बुनता है लेकिन वह अपनी पत्नी की यह इच्छा पूरी नहीं कर पाता।

अपनी गरीबी से छुटकारा पाने के लिए वह बुनकरों की एक सोसायटी बनाना चाहता है। पैसों की कमी के चलते वह बैंक से लोन लेने जाता है तो बैंक के कर्मचारी मतीन को अपमानित करते हैं ''तुम लोग एक साथ कितनी सोसायटियाँ बनाना चाहते हो? क्या तुम सोचते हो कि

सरकार इतनी बेवकूफ है! वाकई रह गये तुम जुलाहे के जुलाहे। वह मुहावरा है न 'जुलाहे बेगुनाहे पचास जूता' सो ठीक ही है। थोड़ी कमाई क्या करने लगे, चाहते हो कि सरकार को भी चारा चरा दो। वह देहाती मसल ठीक ही है, 'गगरिये अनाज, जोलहवै राज!' किसी ने तुम लोगों को 'उल्टी खोपड़ी' का कहा है तो ठीक ही कहा है...''[14]

गरीबी, पत्नी का इलाज न हो पाने पर टी.बी. से मौत का दु:ख, गिरस्तों के शोषण ने मतीन को भीतर से एकदम तोड़ दिया है। लेखक उसकी हालत पर एक जगह बड़ा मार्मिक वाक्य लिखता है कि, ''मतीन बिनता रहता है जैसे वह लाग नहीं, जिन्दगी का अन्तराल बुन रहा हो।''[15] यह उपन्यास बनारस के बुनकरों की समस्याओं का रपट भर नहीं है। यह उपन्यास दिखाता है कि कैसे औद्योगिकीकरण के पश्चात् पूरी दुनिया में बुनकर समुदायों का पूँजीपतियों द्वारा घिनौना शोषण हो रहा है। उपन्यास की भाषा ऐसी है जैसे लगता है कि पूरा बुनकर समुदाय जीवंत हो उठा है। उपन्यास में कहीं-कहीं पर कुछ ऐसे बिंब उभर कर सामने आए हैं जो पाठक के मन मस्तिष्क पर छा जाते हैं,''रऊफ चचा बिन रहे हैं। करघे के पीछे टिका हुआ उनका बूढ़ा शरीर बिल्कुल किताब में छपी कबीर की तस्वीर की तरह लग रहा है। दर्जा पाँच की किताब में मतीन ने वह तस्वीर देखी थी। रऊफ चचा के बदन पर सिर्फ लुंगी है और टोपी। कुर्ता उतारकर उन्होंने बगल में रख लिया है। करघे पर बैंजनी रंग की एक साड़ी बिनी जा रही है। नरी पर कलाबत्तू लिपटा है और ढोटा पर रेशम, मानो आसमान पर चाँद और सूरज साथ-साथ चमक रहे हैं और दुनिया का करघा एक अखण्ड लय के साथ गतिमान है...''[16]

ग्राम्शी जिस तरह से पूँजीवाद को बनाए रखने में सांस्कृतिक वर्चस्व को एक प्रमुख वजह मानते हैं ठीक उसी तरह से मुस्लिम समाज में जातिव्यवस्था और सैय्यदवाद को बनाए रखने में अशराफ तबकों का सांस्कृतिक अधिनायकवाद भी जिम्मेदार है। मुस्लिम संस्कृति के नाम पर हमें कुछ अशराफ जातियों के सांस्कृतिक रूपों से ही केवल परिचित कराया जाता है। जैसे कव्वाली, गजलगोई, दास्तानगोई, मुशायरा, शेर-ओ-शायरी, कुरान का लयात्मकता पाठ इत्यादि। यह सब उन्हीं की प्रदर्शन कलाओं के रूप हैं। जिन्हें टिकाऊ बनाये रखने के लिए मस्जिद-मजार-खानकाह के रूप में स्थापित कर दिया जाता है। अध्ययन करने पर पता चलता है कि शाही मस्जिदों और मजारों के बड़े पदों पर एक ही जाति, समुदाय और परिवार का अधिकार परंपरा से बना हुआ है। इन्हीं संस्थानों के माध्यम से अशराफ तबका आम मुस्लिम जनसमुदाय पर अपने हित को पुष्ट करने वाले विचारों, आस्थाओं, मान्यताओं और सामाजिक मूल्यों को थोपता रहा है। जिससे उनका वर्चस्व पूरे मुस्लिम समाज पर बना रहे। आप देखेंगे कि इन तमाम संस्थाओं में जो अशराफों के मूल्यों, आस्थाओं, मान्यताओं और विचारों को वैधता प्रदान करते हैं, उसमें पसमांदा मुस्लिम समाज का प्रतिनिधित्व न के बराबर होता है। पसमांदा संस्कृति जिसमें नक्कालों की मसखरी, भाटों की कहानियाँ, बक्खों और पमरिया के गीत, मीरशिकार के किस्से, नटों और कलाबाजों की कलाबाजियों का जिक्र तक नहीं किया जाता है। बल्कि एक हद तक उन्हें घृणा और द्वेष के नजरिए से देखा जाता है। अल्पसंख्यक समुदाय के नाम पर तमाम सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक संस्थानों में एक ही तबके से आने वाले ऊँची जाति के मुसलमानों के वर्चस्व के बजाय पसमांदा मुसलमानों की उचित हिस्सेदारी से ही भारतीय मुस्लिम समाज का आंतरिक लोकतंत्रीकरण किया जा सकता है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. साहित्य और कला, मार्क्स-एंगेल्स, राहुल फाउण्डेशन, लखनऊ, 2006, पृष्ठ 71
2. के. एम. अशराफ, अनुवादक-डॉ के. एस. लाल, हिंदुस्तान के निवासियों का जीवन और उनकी परिस्थितियाँ, वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग, शिक्षा मंत्रालय भारत सरकार, 1969, पृष्ठ 255
3. अनिरुद्ध शर्मा, सिनेमा सप्तक, सेतु प्रकाशन, नोएडा, उत्तर प्रदेश, 2023, पृष्ठ 15
4. सं. संज्ञा उपाध्याय, एजाज अहमद संवाद और विचार, शब्दसंधान प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2025, पृ. 71
5. सांस्कृतिक और राजनीतिक चिंतन के बुनियादी सरोकार, अंतोनियो ग्राम्शी, अनु. कृष्णकांत मिश्र, ग्रंथ शिल्पी प्रकाशन, नई दिल्ली,2002, पृष्ठ 105
6. सं. संज्ञा उपाध्याय, एजाज अहमद संवाद और विचार, शब्दसंधान प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2025, पृ. 65
7. अब्दुलबिस्मिल्लाह, झीनी-झीनी बीनी चदरिया, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2018, पृ. 45-46
8. डॉ. अयूबराईन, पमरिया, हेरिटेज पब्लिकेशन, मुम्बई, 2015, पृ. 10

9. अब्दुलबिस्मिल्लाह, समर शेष है, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2016, पृ.124
10. राही मासूम रजा, आधा गाँव, वही, पृ. 51
11. वही, पृ. 70
12. वही, पृ. 71
13. वही, पृ. 42
14. अब्दुलबिस्मिल्लाह, झीनी-झीनी बीनी चदरिया, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2018, पृ. 102
15. वही, पृ. 47
16. वही, पृ. 27

राहुल कुमार यादव
प्रथम तल, मकान संख्या 15,
कोणार्क रेसीडेंसी, नंबरदार कॉलोनी,
बुराड़ी-110084, नई दिल्ली
ई-मेल : rahulartbhu95@gmail.com

भारतीय खेल फिल्मों में खेल भावना और नैतिकता : रील से वास्तविकता तक

– अभिषेक सिंह

शोध सार

यह आलेख भारतीय खेल फिल्मों में खेल भावना और नैतिकता के चित्रण का अध्ययन करता है और भारत में वास्तविक खेल संस्कृति पर उनके प्रभाव की जाँच करता है। 'लगान' (2001), 'चक दे! इंडिया' (2007), 'दंगल' (2016), 'मैरी कॉम' (2014) और 'गोल्ड' (2018) जैसी प्रमुख फिल्मों का विश्लेषण करके यह अध्ययन दर्शाता है कि ये फिल्में जटिल नैतिक दुविधाओं जैसे निष्पक्ष खेल, ईमानदारी और नेतृत्व को कैसे संबोधित करती हैं। यह शोध इस बात को रेखांकित करता है कि भारतीय खेल फिल्में खेलों में नैतिक व्यवहार को बढ़ावा देने और सार्वजनिक धारणाओं को आकार देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं, विशेष रूप से अपनी प्रेरणादायक कथाओं के माध्यम से जो खिलाड़ियों, कोचों और आम जनता के साथ जुड़ती हैं।

हालाँकि इस पेपर में कुछ चुनौतियों की भी पहचान की गई है, जिनमें फिल्मों द्वारा नैतिक मुद्दों के सरलीकरण की प्रवृत्ति और सिनेमा में चित्रण और वास्तविक खेल नैतिकता के बीच अंतर शामिल है। इन सीमाओं के बावजूद, भारत में खेल संस्कृति पर खेल फिल्मों का प्रभाव स्पष्ट है क्योंकि वे खेलों में नैतिकता और खेल भावना पर चल रही चर्चा में योगदान देती हैं। पेपर अंततः खेल, नैतिकता और सिनेमा के बीच के अंतर्संबंध पर आगे के अनुसंधान के लिए सुझाव देता है और फिल्म निर्माताओं को खेलों में नैतिक मूल्यों को बढ़ावा देने के लिए खेल फिल्मों के सकारात्मक प्रभाव को बढ़ाने के लिए सिफारिशें प्रदान करता है। अंततः यह अध्ययन इस बात पर प्रकाश डालता है कि भारतीय खेल फिल्मों में समाज में खेल भावना और ईमानदारी के सिद्धांतों को प्रेरित और सुदृढ़ करने की स्थायी क्षमता है।

भारतीय खेल फिल्मों में खेल भावना और नैतिक मुद्दों का चित्रण किस प्रकार किया गया है तथा इसका सिनेमाई चित्रण वास्तविक जीवन की खेल संस्कृति को कैसे प्रभावित करता है, साथ ही इस आलेख के माध्यम से भारतीय खेल संस्कृति पर इन फिल्मों के प्रभाव का आकलन भी करना मुख्य उद्देश्य है तथा इन भारतीय खेल फिल्मों के विश्लेषण के माध्यम से निष्पक्ष खेल, ईमानदारी, खेल भावना, नैतिकता इत्यादि को सामने लाने का प्रयास किया गया है।

बीज शब्द– निष्पक्ष खेल, ईमानदारी, खेल भावना, नैतिकता, नेतृत्व क्षमता, खेल फिल्में, लगान, चक दे! इंडिया, दंगल, मैरी कॉम, गोल्ड, भारतीय सिनेमा, खिलाड़ी, कोच, टीम वर्क, प्रतिस्पर्धा, संस्कृति, इत्यादि।

मूल आलेख

खेल भावना और नैतिकता खेल जगत के बुनियादी सिद्धांत हैं जो निष्पक्षता, सम्मान और ईमानदारी पर जोर देते हैं। वे सुनिश्चित करते हैं कि प्रतिस्पर्धाएँ केवल जीतने के लिए नहीं हैं, बल्कि खेल को सही भावना से खेलने के लिए भी हैं। खेल में नैतिक आचरण खिलाड़ियों के बीच आपसी सम्मान को बढ़ावा देता है, विरोधियों के प्रति निष्पक्षता और नियमों का पालन सुनिश्चित करता है, जो खेल के मैदान से परे एक ईमानदारी की संस्कृति को बढ़ावा देता है।

सिनेमा एक शक्तिशाली माध्यम है जो सामाजिक मूल्यों को प्रतिबिंबित करता है और उन्हें आकार देता है। कहानी कहने के माध्यम से फिल्में जनमत को प्रभावित कर सकती हैं, मौजूदा मानदंडों को चुनौती दे सकती हैं और परिवर्तन

के लिए प्रेरित कर सकती हैं।[1] खेल के संदर्भ में फिल्में नैतिक दुविधाओं को उजागर कर सकती हैं, खेल भावना के कार्यों का जश्न मना सकती हैं और अनैतिक प्रथाओं की आलोचना कर सकती हैं। खेल से संबंधित कहानियों को प्रस्तुत करके, सिनेमा खेल में नैतिकता पर व्यापक चर्चा में योगदान कर सकता है और समाज में सकारात्मक मूल्यों को अपनाने के लिए प्रोत्साहित कर सकता है।[2]

भारतीय खेल फिल्में एक महत्वपूर्ण शैली के रूप में उभरी हैं, जो अक्सर खिलाड़ियों के जीवन, उनके सामने आने वाली चुनौतियों और उन्हें किए जाने वाले नैतिक विकल्पों का नाट्यकरण करती हैं। ये फिल्में न केवल मनोरंजन करती हैं, बल्कि भारत में वास्तविक जीवन की खेल संस्कृति का प्रतिबिंब भी हैं। वे दृढ़ता, टीम वर्क, निष्पक्ष खेल और नैतिकता के विषयों का अन्वेषण करती हैं, जो उन्हें देश में खेल संस्कृति पर विचार करने और उसे प्रभावित करने के लिए एक महत्वपूर्ण माध्यम बनाती हैं। अपनी कहानियों के माध्यम से, भारतीय खेल फिल्में खेल में नैतिक व्यवहार की अवधारणा को आकार देने और खिलाड़ियों और प्रशंसकों को इन मूल्यों को अपनाने के लिए प्रेरित करने की क्षमता रखती हैं।

खेल : खेल भावना और नैतिकता

खेल भावना से तात्पर्य नैतिक आचरण, निष्पक्ष खेल और विरोधियों, अधिकारियों और खेल के नियमों के प्रति सम्मान से है। यह ईमानदारी, जीत में विनम्रता और हार में गरिमा के सिद्धांतों को समाहित करता है। खेल में नैतिकता केवल नियमों तक सीमित नहीं है, बल्कि इसमें नैतिक आचरण भी शामिल है, जिसमें ईमानदारी, निष्पक्षता और दूसरों के प्रति सम्मान का महत्व है। ये अवधारणाएँ खेल की अखंडता बनाए रखने, प्रतियोगिताओं को निष्पक्ष बनाने और सहभागियों के बीच आपसी सम्मान और सौहार्द्र को प्रोत्साहित करने के लिए आवश्यक हैं।[3]

खेल में नैतिकता की भूमिका पर एक महत्वपूर्ण मात्रा में शोध किया गया है, जो वैश्विक और भारतीय दोनों संदर्भों में है। वैश्विक स्तर पर, अध्ययनों ने उन नैतिक चुनौतियों की जांच की है जिनका सामना खिलाड़ियों को करना पड़ता है, जैसे डोपिंग, मैच फिक्सिंग और किसी भी कीमत पर जीतने का दबाव। शोध ने खेल संगठनों में नैतिक नेतृत्व के महत्व और सकारात्मक खेल संस्कृति को बढ़ावा देने में खेल भावना की भूमिका को भी उजागर किया है।

भारत में, शोध ने खेल भावना पर सांस्कृतिक मूल्यों के प्रभाव, खेल में नैतिक व्यवहार पर व्यावसायीकरण के प्रभाव और खेल के माध्यम से नैतिकता को बढ़ावा देने में शैक्षणिक संस्थानों की भूमिका पर ध्यान केंद्रित किया है। अध्ययनों ने भारतीय खिलाड़ियों द्वारा सामना की गई विशिष्ट नैतिक दुविधाओं और नैतिक उल्लंघनों के प्रति खेल निकायों की प्रतिक्रिया का भी विश्लेषण किया है।

समाज का प्रतिबिंब के रूप में सिनेमा

सिनेमा को लंबे समय से सामाजिक मूल्यों को प्रतिबिंबित और प्रभावित करने के लिए एक शक्तिशाली उपकरण के रूप में पहचाना गया है। फिल्में समाज का एक दर्पण होती हैं, जो मानव व्यवहार, सांस्कृतिक मानदंडों और नैतिक दुविधाओं की जटिलताओं को चित्रित करती हैं। कहानी कहने के माध्यम से, फिल्में मौजूदा विश्वासों को चुनौती दे सकती हैं, परिवर्तन को प्रेरित कर सकती हैं और सामाजिक न्याय को बढ़ावा दे सकती हैं। खेल के संदर्भ में, फिल्में नैतिकता, ईमानदारी और निष्पक्षता के मुद्दों को उजागर कर सकती हैं, जिससे दर्शकों को अपने मूल्यों और व्यवहारों पर विचार करने और उन्हें प्रतिबिंबित करने के लिए एक दृष्टिकोण मिलता है।

सामाजिक मूल्यों पर फिल्मों के प्रभाव को व्यापक रूप से प्रलेखित किया गया है, जिसमें उन सिनेमाई कथाओं के कई उदाहरण शामिल हैं जिन्होंने सार्वजनिक चर्चाओं को प्रेरित किया है, नीति परिवर्तनों को प्रभावित किया है और सामाजिक आंदोलनों में योगदान दिया है। भारत में, जहाँ सिनेमा का महत्वपूर्ण सांस्कृतिक प्रभाव है, फिल्मों ने विभिन्न सामाजिक मुद्दों पर सार्वजनिक धारणाओं को आकार देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है, जिसमें लैंगिक समानता, जातिगत भेदभाव और राष्ट्रवाद शामिल हैं।

भारतीय सिनेमा का एक समृद्ध इतिहास है, जिसमें अक्सर सामाजिक मुद्दों पर जागरूकता बढ़ाने और सामाजिक परिवर्तन को बढ़ावा देने के लिए फिल्मों का उपयोग किया गया है। 'मदर इंडिया' (1957) और 'सलाम बॉम्बे!' (1988) जैसी फिल्मों ने गरीबी, अन्याय और सामाजिक असमानता के मुद्दों को उजागर किया है, जिससे जनमत को प्रभावित किया गया है और बहसों को प्रेरित किया गया है।

हाल के वर्षों में, भारतीय सिनेमा ने महिलाओं के अधिकारों, एलजीबीटीक्यू अधिकारों और पर्यावरण संरक्षण

जैसे समकालीन सामाजिक मुद्दों पर अधिक ध्यान केंद्रित किया है। इन मुद्दों का फिल्मों में चित्रण न केवल बदलते सामाजिक परिदृश्य को प्रतिबिंबित करता है, बल्कि इन विषयों पर चर्चा में भी योगदान देता है, जिससे भारतीय दर्शकों के बीच दृष्टिकोण और व्यवहार प्रभावित होते हैं।

भारतीय खेल फिल्मों का अवलोकन

भारतीय सिनेमा में खेल फिल्में काफी विकसित हुई हैं। इस शैली की शुरुआत उन फिल्मों से हुई, जिनमें खेल को एक गौण तत्व के रूप में शामिल किया गया था, जो अक्सर मुख्य कहानी के लिए पृष्ठभूमि का काम करती थीं। समय के साथ, खेल फिल्मों का केंद्रीय विषय बन गया, जिसमें कथाएँ खिलाड़ियों के जीवन, उनके संघर्षों और उनकी जीत पर केंद्रित होने लगीं।

खेल फिल्मों के विकास को 'कानून अपना अपना' (1989) जैसी प्रारंभिक उदाहरणों से लेकर 'लगान' (2001) और 'चक दे! इंडिया' (2007) जैसी हालिया और प्रभावशाली फिल्मों तक देखा जा सकता है। इन फिल्मों ने न केवल मनोरंजन किया है, बल्कि सामाजिक और नैतिक मुद्दों पर भी टिप्पणी की है, जिसमें खेल को व्यापक सामाजिक चुनौतियों के रूप में एक रूपक के रूप में इस्तेमाल किया गया है।[4]

कई भारतीय खेल फिल्मों ने सीधे तौर पर खेल भावना, नैतिकता और निष्पक्ष खेल के मुद्दों को संबोधित किया है। प्रमुख उदाहरणों में शामिल हैं—

'लगान' (2001)[5] : औपनिवेशिक संदर्भ में खेल भावना का परीक्षण

'लगान' औपनिवेशिक भारत में सेट की गई है, जहाँ ग्रामीणों का एक समूह भारी करों से बचने के लिए अपने ब्रिटिश शासकों को क्रिकेट के खेल में चुनौती देता है। यह फिल्म क्रिकेट मैच को औपनिवेशिक शासन के खिलाफ प्रतिरोध के रूपक के रूप में उपयोग करती है।

खेल भावना और नैतिकता : फिल्म खेल भावना को इस रूप में प्रस्तुत करती है कि कैसे ग्रामीण निष्पक्ष रूप से खेल खेलने के लिए प्रतिबद्ध हैं, भले ही उनके पास अनुभव की कमी हो। यह ग्रामीणों के नैतिक आचरण की तुलना ब्रिटिश टीम के अहंकार और धोखाधड़ी से करती है, जिसमें न्याय, सम्मान और निष्पक्ष खेल जैसे विषयों को उजागर किया गया है।

पाठ : ग्रामीणों की खेल भावना के प्रति दृढ़ता, सम्मान और आत्म-सम्मान के व्यापक संघर्ष को दर्शाती है, जो यह बताती है कि प्रतिकूल परिस्थितियों में भी ईमानदारी का महत्व है।

'चक दे! इंडिया' (2007)[6] : टीम नैतिकता और नेतृत्व का प्रतिनिधित्व

'चक दे! इंडिया' एक बदनाम पूर्व हॉकी खिलाड़ी की कहानी बताती है, जो भारतीय महिला राष्ट्रीय हॉकी टीम का कोच बन जाता है और विपरीत परिस्थितियों के बावजूद उन्हें सफलता दिलाता है।

खेल भावना और नैतिकता : यह फिल्म टीम वर्क, अनुशासन और नेतृत्व की नैतिकता पर केंद्रित है। यह कोच के प्रयासों को उजागर करती है कि वह टीम में एकता और उद्देश्य की भावना को कैसे प्रोत्साहित करता है, क्षेत्रीय पूर्वाग्रहों और व्यक्तिगत मतभेदों को दूर कर एक सामूहिक लक्ष्य प्राप्त करने के लिए।

पाठ : यह फिल्म नैतिक नेतृत्व के महत्व और सामूहिक प्रयास की शक्ति को रेखांकित करती है, जो यह दर्शाती है कि निष्पक्षता और सम्मान के प्रति प्रतिबद्धता कैसे मैदान के अंदर और बाहर दोनों में सफलता दिला सकती है।

'दंगल' (2016)[7] : अनुशासन, निष्पक्ष खेल और कोचिंग की नैतिकता का चित्रण

'दंगल' एक सच्ची कहानी पर आधारित है, जिसमें पहलवान महावीर सिंह फोगाट और उनकी बेटियों की कहानी दिखाई गई है, जो उनके कठोर मार्गदर्शन में विश्व स्तरीय पहलवान बन जाती हैं।

खेल भावना और नैतिकता : यह फिल्म कोचिंग की नैतिकता पर गहराई से विचार करती है, विशेष रूप से अनुशासन और प्रोत्साहन के बीच संतुलन पर। यह एक अत्यधिक प्रतिस्पर्धी माहौल में निष्पक्ष खेल को बनाए रखने की चुनौतियों और अपनी बेटियों को उनकी सीमाओं तक पहुंचाने में कोच द्वारा सामना की गई नैतिक दुविधाओं को दर्शाती है।

पाठ : 'दंगल' सफलता प्राप्त करने में कड़ी मेहनत, अनुशासन और नैतिक निर्णय लेने के मूल्य को रेखांकित करती है। यह कोचों की उनके खिलाड़ियों के साथ संबंधों में नैतिक जिम्मेदारियों पर भी सवाल उठाती है।

'मैरी कॉम' (2014)[8] : विपरीत परिस्थितियों में ईमानदारी और दृढ़ता की चुनौतियाँ

'मैरी कॉम' भारतीय मुक्केबाज मैरी कॉम के जीवन पर आधारित एक जीवनी फिल्म है, जिसमें एक छोटे से

गाँव से लेकर विश्व चौंपियन बनने तक की उनकी यात्रा को दिखाया गया है।

खेल भावना और नैतिकता : यह फिल्म मैरी कॉम की दृढ़ता, ईमानदारी और खेल के प्रति उनकी प्रतिबद्धता को उजागर करती है, भले ही उन्हें व्यक्तिगत और पेशेवर चुनौतियों का सामना करना पड़े। यह एक चुनौतीपूर्ण खेल करियर और व्यक्तिगत जीवन को संतुलित करने की नैतिक संघर्षों को दर्शाती है।

पाठ : यह फिल्म विपरीत परिस्थितियों में नैतिक आचरण और उत्कृष्टता की खोज में ईमानदारी बनाए रखने के महत्व के बारे में शक्तिशाली संदेश देती है।

'गोल्ड' (2018)[9] : राष्ट्रीय गौरव और खेल भावना के नैतिक आयाम

'गोल्ड' भारत की स्वतंत्रता की लड़ाई के दौरान सेट की गई है और यह भारतीय हॉकी टीम के पहले ओलंपिक स्वर्ण पदक जीतने के प्रयास पर केंद्रित है।

खेल भावना और नैतिकता : यह फिल्म राष्ट्रीय गौरव और खेल भावना के अंतर्संबंध की जांच करती है, जो वैश्विक मंच पर अपने देश का प्रतिनिधित्व करने के नैतिक निहितार्थों को भी उजागर करती है। इसमें टीम और विरोधियों के प्रति निष्पक्षता और सम्मान के मुद्दों को भी संबोधित किया गया है।

पाठ : 'गोल्ड' खिलाड़ियों के नैतिक जिम्मेदारियों, सम्मान के साथ खेल खेलने के महत्व और राष्ट्रीय पहचान पर खेल भावना के प्रभाव के बारे में सबक देती है।

इन फिल्मों ने न केवल दर्शकों का मनोरंजन किया है, बल्कि खेलों के नैतिक आयामों पर भी विचार करने के लिए प्रेरित किया है, जिससे भारतीय समाज में खेल भावना और नैतिकता को लेकर धारणा प्रभावित हुई है।

कोच, खिलाड़ी और संस्थानों की नैतिक आचरण, इत्यादि को बढ़ावा देने में भूमिका

कोच : कोचों को अक्सर अपनी टीमों में नैतिक मूल्यों को स्थापित करने में प्रमुख व्यक्तियों के रूप में दिखाया गया है, चाहे वह अनुशासन, प्रोत्साहन के माध्यम से हो या ईमानदारी का उदाहरण स्थापित करके। इन फिल्मों में से कई ने कोचों और नेताओं की नैतिक जिम्मेदारियों को उजागर किया है, जिसमें खिलाड़ियों को निष्पक्षता, सम्मान और दीर्घकालिक विकास पर केंद्रित मार्गदर्शन देने के महत्व पर जोर दिया गया है।

खिलाड़ी : नायक अक्सर व्यक्तिगत और पेशेवर चुनौतियों से जूझते हैं जो उनकी खेल भावना के प्रति प्रतिबद्धता की परीक्षा लेते हैं, अंततः यह प्रदर्शित करते हैं कि सच्ची सफलता प्राप्त करने में नैतिक आचरण का महत्व है।

संस्थान : जबकि कुछ फिल्में नैतिकता को बढ़ावा देने में संस्थागत विफलताओं की आलोचना करती हैं, अन्य फिल्मों ने खेल में निष्पक्षता और सम्मान की संस्कृति को बढ़ावा देने में सहायक संस्थानों की भूमिका को उजागर किया है।

निष्पक्ष खेल और ईमानदारी : इन फिल्मों में निष्पक्ष खेल को एक प्रमुख मूल्य के रूप में लगातार प्रस्तुत किया गया है, जिसमें नायक अक्सर उन नैतिक दुविधाओं का सामना करते हैं जो उनकी ईमानदारी की परीक्षा लेती हैं।

दृढ़ता और लचीलापन की चुनौतियाँ : ये फिल्में अक्सर खिलाड़ियों को महत्वपूर्ण चुनौतियों को पार करते हुए दिखाती हैं, जिसमें नैतिक मानकों को बनाए रखने पर जोर दिया गया है।

विरोधियों के प्रति सम्मान : विरोधियों के प्रति, मैदान के अंदर और बाहर दोनों जगह, सम्मान को खेल भावना के मूलभूत पहलू के रूप में प्रस्तुत किया गया है, जिसमें नैतिक आचरण खेल से परे भी विस्तारित होता है।

कथा प्रभाव : इन फिल्मों में कहानी कहने का उद्देश्य सहानुभूति और चिंतन को प्रेरित करना है, जिससे दर्शकों को अपने जीवन में खेल भावना के नैतिक आयामों पर विचार करने के लिए प्रोत्साहित किया जा सके।

सांस्कृतिक प्रभाव : इन फिल्मों के माध्यम से विश्वसनीय पात्रों और स्थितियों को चित्रित करके, दर्शकों पर खेल में नैतिकता की धारणा को प्रभावित करने की क्षमता है, जिससे खेल और जीवन दोनों में निष्पक्ष खेल और ईमानदारी के मूल्य की व्यापक समझ को बढ़ावा मिलता है।

भारतीय खेल फिल्मों का वास्तविक जीवन की खेल संस्कृति पर प्रभाव

सार्वजनिक दृष्टिकोण का आकार देना : भारतीय खेल फिल्मों ने खेल भावना और नैतिकता की सार्वजनिक समझ को आकार देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। उन खिलाड़ियों की कठिनाइयों और उपलब्धियों को दर्शाकर, जिन्होंने नैतिक सिद्धांतों का पालन किया, ये फिल्में दर्शकों को खेल में निष्पक्षता, सम्मान और ईमानदारी के महत्व

को समझने के लिए प्रेरित करती हैं। खेल भावना का सिनेमाई चित्रण न केवल खेल में बल्कि रोजमर्रा की जिंदगी में भी नैतिक आचरण के लिए व्यापक सांस्कृतिक प्रशंसा में योगदान देता है।[10]

सांस्कृतिक प्रतिध्वनि : 'चक दे! इंडिया' और 'दंगल' जैसी फिल्में भारतीय दर्शकों के साथ गहराई से जुड़ती हैं, उन्हें खेल को केवल एक प्रतिस्पर्धा के रूप में नहीं बल्कि चरित्र और नैतिक मूल्यों को प्रदर्शित करने के एक मंच के रूप में देखने के लिए प्रोत्साहित करती हैं। इन फिल्मों में नैतिक दुविधाओं का चित्रण और खेल भावना पर जोर ने खेल में नैतिकता के महत्व के बारे में सार्वजनिक चर्चाओं को प्रेरित किया है और देश में खेल भावना की धारणा में बदलाव में योगदान दिया है।

'चक दे! इंडिया' (2007) : 'चक दे ! इंडिया' की रिलीज के बाद, खेल में टीम वर्क, राष्ट्रीय गौरव और नैतिक नेतृत्व के महत्व के बारे में सार्वजनिक चर्चाओं में उल्लेखनीय वृद्धि हुई। इस फिल्म की सफलता ने भारत में महिला खेलों को अधिक मान्यता दिलाई और कई युवा लड़कियों को खेल को करियर के रूप में अपनाने के लिए प्रेरित किया।

'दंगल' (2016) : 'दंगल' ने भारत में महिला खिलाड़ियों द्वारा सामना की जाने वाली चुनौतियों पर ध्यान आकर्षित किया, जिससे खेल में लैंगिक समानता के बारे में चर्चाओं को बढ़ावा मिला। फिल्म के अनुशासन और नैतिक कोचिंग पर ध्यान केंद्रित करने से खिलाड़ियों के करियर और व्यक्तित्व के निर्माण में कोचों की भूमिका के बारे में सार्वजनिक धारणाओं को प्रभावित किया गया।

'गोल्ड' (2018) : 'गोल्ड' ने भारत की खेल उपलब्धियों में राष्ट्रीय गौरव को फिर से जागृत किया, जिससे वैश्विक मंच पर अपने देश का प्रतिनिधित्व करने वाले खिलाड़ियों की नैतिक जिम्मेदारियों के बारे में चर्चाएँ हुईं। फिल्म में निष्पक्ष खेल और खेल भावना के चित्रण ने भारतीय खेल संस्कृति में इन मूल्यों पर नए सिरे से ध्यान केंद्रित करने में योगदान दिया।

प्रेरणा और प्रोत्साहन के लिए किए जाने वाले आवश्यक प्रयास

भारत में खेल फिल्में खिलाड़ियों और कोचों के लिए प्रेरणा का स्रोत रही हैं, जिससे उन्हें खेल भावना और नैतिकता के मूल्यों को अपनाने के लिए प्रेरित किया गया है। फिल्मों में दृढ़ निश्चयी खिलाड़ियों और नैतिक कोचों के चित्रण ने वास्तविक जीवन के खेल हस्तियों को अपने करियर में ईमानदारी और निष्पक्ष खेल को प्राथमिकता देने के लिए प्रेरित किया है।

रोल मॉडल : 'चक दे ! इंडिया' में कबीर खान और 'दंगल' में महावीर सिंह फोगाट जैसे फिल्मी पात्र, उभरते और स्थापित खिलाड़ियों और कोचों के लिए रोल मॉडल बन गए हैं। ये पात्र नैतिक नेतृत्व, लचीलापन और निष्पक्ष प्रतिस्पर्धा के प्रति प्रतिबद्धता का उदाहरण देते हैं, जो वास्तविक जीवन के खेल हस्तियों को सकारात्मक उदाहरण प्रदान करते हैं।

खिलाड़ियों के साथ साक्षात्कार : भारतीय खिलाड़ियों, जैसे पहलवानों, हॉकी खिलाड़ियों और मुक्केबाजों के साथ साक्षात्कार में अक्सर यह खुलासा होता है कि खेल फिल्मों ने उनके खेल भावना के प्रति दृष्टिकोण पर गहरा प्रभाव डाला है। कई खिलाड़ियों ने 'दंगल' और 'मैरी कॉम' जैसी फिल्मों का उल्लेख प्रेरणा के स्रोत के रूप में किया है, जिन्होंने उनके अनुशासन, कड़ी मेहनत और नैतिक व्यवहार के प्रति उनकी प्रतिबद्धता को मजबूत किया है।

कोचों का दृष्टिकोण : भारत के विभिन्न खेलों में कोचों ने 'चक दे ! इंडिया' जैसी फिल्मों के अपने कोचिंग दर्शन पर प्रभाव को स्वीकार किया है। इन फिल्मों ने कोचों को टीम नैतिकता, निष्पक्ष खेल और खिलाड़ियों के समग्र विकास पर ध्यान केंद्रित करने के लिए प्रेरित किया है, न कि केवल जीत पर।

पाठ्यक्रम में शामिल करना : भारत में खेल शिक्षा कार्यक्रमों ने शिक्षण उपकरणों के रूप में खेल फिल्मों को तेजी से अपने पाठ्यक्रम में शामिल किया है। इन फिल्मों का उपयोग खेल भावना, नैतिकता और नेतृत्व के प्रमुख अवधारणाओं को स्पष्ट करने के लिए किया जाता है, जो छात्रों को दिखाते हैं कि इन मूल्यों को वास्तविक जीवन के परिदृश्यों में कैसे लागू किया जा सकता है।

कार्यशालाएँ और संगोष्ठियाँ : शैक्षिक संस्थान और खेल अकादमियाँ अक्सर कार्यशालाओं और संगोष्ठियों का आयोजन करती हैं, जहाँ खेल फिल्मों का प्रदर्शन किया जाता है और उन पर चर्चा की जाती है। ये आयोजन छात्रों और खिलाड़ियों को फिल्मों में चित्रित नैतिक दुविधाओं पर चर्चा करने और अपने खेल अनुभवों में सीखे गए सबक को लागू करने के अवसर प्रदान करते हैं।

नैतिकता प्रशिक्षण मॉड्यूल : कुछ खेल संस्थानों ने

नैतिकता प्रशिक्षण मॉड्यूल विकसित किए हैं, जिनमें लोकप्रिय खेल फिल्मों के सिनेमाई उदाहरण शामिल हैं। ये मॉड्यूल खिलाड़ियों को नैतिक व्यवहार, निर्णय लेने और खेल में खेल भावना के महत्व को समझाने के लिए डिजाइन किए गए हैं।

मेंटरशिप कार्यक्रम : युवा खिलाड़ियों के लिए मेंटरशिप कार्यक्रम कभी-कभी प्रशिक्षण के हिस्से के रूप में खेल फिल्मों का उपयोग करते हैं। मेंटर्स अपने मेंटीज को फिल्मों में चित्रित नैतिक चुनौतियों के बारे में मार्गदर्शन करते हैं, जिससे उन्हें अपने खेल जीवन में समान चुनौतियों का सामना करने में मदद मिलती है। इन कार्यक्रमों में सिनेमाई कथाओं के उपयोग से ईमानदारी बनाए रखने और निष्पक्ष खेल की भावना को बनाए रखने के महत्व को सुदृढ़ करने में मदद मिलती है।

चुनौतियाँ और आलोचनाएँ

जन अपील के लिए सरलीकरण : खेल फिल्मों, जैसे कि कई सिनेमाई शैलियों, का उद्देश्य अक्सर व्यापक दर्शकों तक पहुँचना होता है। यह सुनिश्चित करने के लिए कि कथा आकर्षक और सुलभ हो, फिल्म निर्माता जटिल नैतिक दुविधाओं को सरल बना सकते हैं। उदाहरण के लिए, सही और गलत के बीच संघर्ष का चित्रण श्वेत-श्याम तरीके से प्रस्तुत किया जा सकता है, जिससे वास्तविक जीवन में खिलाड़ियों और कोचों द्वारा सामना की जाने वाली सूक्ष्म वास्तविकताओं की उपेक्षा की जा सकती है।[11]

कथानक उपकरण के रूप में नैतिक संघर्ष : कई खेल फिल्मों में, नैतिक संघर्ष कथा को आगे बढ़ाने या नाटकीय तनाव पैदा करने के लिए कथानक उपकरण के रूप में कार्य करते हैं। इससे एक साधारण दृष्टिकोण पैदा हो सकता है, जहाँ नैतिक मुद्दों का समाधान बहुत आसानी से या अवास्तविक रूप से हो जाता है, बिना गहरे नैतिक जटिलताओं की खोज के। इस तरह के चित्रण दर्शकों को यह आभास दे सकते हैं कि खेल में नैतिक निर्णय सीधे और आसानी से नेविगेट किए जा सकते हैं, जो वास्तविकता में अक्सर ऐसा नहीं होता है।[12]

खेल भावना का आदर्शीकरण : आलोचक अक्सर इस बात की ओर इशारा करते हैं कि जीत या सफलता का अंतिम मार्ग बताते हुए खेल फिल्में खेल भावना को आदर्श बनाती हैं। जबकि यह एक उत्साहजनक संदेश है, यह हमेशा प्रतिस्पर्धी खेलों की वास्तविकता को नहीं दर्शाता है, जहाँ नैतिक व्यवहार हमेशा सफलता की ओर नहीं ले जाता और कभी-कभी अनैतिक व्यवहार पुरस्कृत भी किया जाता है।[13]

अतिशयोक्ति और रूढ़िवादिता : फिल्मों में नाट्यकरण नैतिक मुद्दों के अतिरंजित चित्रण की ओर ले जा सकता है, जहाँ पात्र या तो अत्यधिक सदाचारी होते हैं या स्पष्ट रूप से अनैतिक होते हैं, जिनमें वास्तविक जीवन में मौजूद धूसर क्षेत्रों के लिए बहुत कम जगह होती है। यह द्विआधारी चित्रण खिलाड़ियों, कोचों या टीमों के बारे में रूढ़िवादिता को बढ़ावा दे सकता है और अत्यधिक प्रतिस्पर्धी वातावरण में खेल भावना को बनाए रखने की चुनौतियों को सरलीकृत कर सकता है।

यथार्थवादी परिणामों की कमी : कई फिल्मों में, अनैतिक व्यवहार के परिणाम अक्सर इस तरह से चित्रित किए जाते हैं जो या तो बहुत गंभीर होते हैं या बहुत हल्के होते हैं जिससे ऐसे कार्यों के वास्तविक जीवन के परिणामों का सही-सही प्रतिबिंब नहीं मिलता है। ''यह दर्शकों को व्यक्तिगत और व्यापक खेल संस्कृति दोनों के लिए खेल में नैतिक उल्लंघनों के वास्तविक प्रभाव के बारे में गुमराह कर सकता है।''[14]

निष्कर्ष

भारतीय खेल फिल्मों ने लगातार खेल भावना और नैतिकता के मूल्यों को उजागर किया है, अक्सर व्यक्तिगत और टीम संघर्षों की कहानियों का उपयोग करके इन विषयों का अन्वेषण किया है। दृढ़ता, निष्पक्ष खेल और ईमानदारी की कहानियों के माध्यम से, इन फिल्मों ने खिलाड़ियों और कोचों द्वारा सामना की जाने वाली नैतिक दुविधाओं को चित्रित किया है, जिससे दर्शकों को खेल की दुनिया में निहित नैतिक चुनौतियों की एक झलक मिलती है। 'लगान', 'चक दे! इंडिया', 'दंगल' और 'मैरी कॉम' जैसी प्रमुख फिल्मों ने यह सफलतापूर्वक चित्रित किया है कि कैसे महत्वपूर्ण प्रतिकूल परिस्थितियों का सामना करने पर भी नैतिक मानकों को बनाए रखना आवश्यक है, और नेतृत्व, टीम वर्क और व्यक्तिगत ईमानदारी की भूमिका को सच्ची सफलता प्राप्त करने में महत्व दिया है।

इन फिल्मों का प्रभाव मनोरंजन से परे है, क्योंकि उन्होंने भारत में खेल भावना और नैतिकता के संबंध में सार्वजनिक धारणा और व्यवहार को आकार देने में भूमिका निभाई है। इन फिल्मों ने खिलाड़ियों, कोचों और आम

जनता को खेल में निष्पक्ष खेल और ईमानदारी के महत्व को समझने के लिए प्रेरित किया है, जिससे खेल संस्कृति अधिक सकारात्मक हुई है। हालाँकि इन फिल्मों का प्रभाव सीमाओं के बिना नहीं है, क्योंकि सिनेमा में आदर्शीकृत चित्रण और वास्तविक दुनिया के खेल नैतिकता की जटिल वास्तविकताओं के बीच का अंतर महत्वपूर्ण बना हुआ है। इन चुनौतियों के बावजूद, भारतीय खेल फिल्मों ने खेलों में नैतिकता पर चर्चा में एक सार्थक योगदान दिया है, जिससे खेल समुदाय के भीतर इन मूल्यों पर गहन विचार को प्रोत्साहित किया गया है।

भविष्य के अनुसंधान को खेलों में नैतिक आचरण पर खेल फिल्मों के दीर्घकालिक प्रभाव का अन्वेषण करना चाहिए, जिसमें यह जाँच की जानी चाहिए कि ये फिल्में न केवल व्यक्तिगत खिलाड़ियों और कोचों बल्कि व्यापक संस्थागत प्रथाओं और नीतियों को कैसे प्रभावित करती हैं। भारतीय खेल फिल्मों और अन्य देशों की फिल्मों के बीच तुलनात्मक अध्ययन यह अंतर्दृष्टि प्रदान कर सकता है कि विभिन्न सांस्कृतिक संदर्भ खेल भावना और नैतिकता के चित्रण को कैसे आकार देते हैं। इसके अतिरिक्त, शोध को प्रशिक्षण कार्यक्रमों में खेल फिल्मों को शिक्षण उपकरण के रूप में उपयोग करने की प्रभावशीलता का भी पता लगाना चाहिए, जिसमें यह आकलन किया जाना चाहिए कि सिनेमाई उदाहरण व्यावहारिक नैतिक निर्णय लेने में कितने कारगर होते हैं।

फिल्म निर्माता नैतिक दुविधाओं के चित्रण में अधिक यथार्थवाद की दिशा में प्रयास करके, सरलीकरण से बचकर और खिलाड़ियों और कोचों द्वारा सामना की जाने वाली चुनौतियों के अधिक सूक्ष्म चित्रण प्रदान करके खेल फिल्मों के सकारात्मक प्रभाव को बढ़ा सकते हैं। कम प्रसिद्ध खेलों और हाशिए के समुदायों के खिलाड़ियों के विविध दृष्टिकोणों को शामिल करने से खेल फिल्मों में नैतिकता पर चर्चा का विस्तार हो सकता है। इसके अलावा, फिल्म निर्माताओं को खेल संगठनों और शैक्षणिक संस्थानों के साथ सहयोग करने पर विचार करना चाहिए ताकि यह सुनिश्चित हो सके कि उनकी फिल्में नैतिक प्रशिक्षण में योगदान देती हैं और खेलों में ईमानदारी की संस्कृति को बढ़ावा देती हैं।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. झा, एस. (2023). काउंटर-हेगेमोनिक खेल : भारतीय सिनेमा में वैकल्पिक खेल कथाओं का निर्माण। जर्नल ऑफ पॉपुलर कल्चर, 56(3-4), 719-730. https://doi.org/10-1111/jpcu.13269
2. असुमी, के.एच., चौधरी, आर.डी., नाथ, एस.सी. और दत्ता, पी.पी. (2024)। भारतीय खेलों में कॉर्पोरेट प्रभाव : एक गहन अन्वेषण। इंटरनेशनल जर्नल ऑफ एप्लाइड रिसर्च, 10 (2), 103-110. https://doi.org/10-22271/allresearch.2024.v10.i2b-11536
3. रॉय, ए. (2012). बॉलीवुड का जादू : देश और विदेश में https://doi.org/10.4135/9788132113966
4. झा, एस. (2023). काउंटर-हेगेमोनिक खेल : भारतीय सिनेमा में वैकल्पिक खेल कथाओं का निर्माण। जर्नल ऑफ पॉपुलर कल्चर, 56(3-4), 719-730. https://doi.org/10.1111/jpcu.13269
5. https://www.imdb.com/title/tt0169102/
6. https://www.imdb.com/title/tt0871510/
7. https://www.imdb.com/title/tt5074352/
8. https://www.netflix.com/in/title/80015785
9. https://www.primevideo.com/detail/Gold/0Q7IRLLJZ7W1CL9WUKQ2G9JAZQ
10. झा, एस. (2023). काउंटर-हेगेमोनिक खेल : भारतीय सिनेमा में वैकल्पिक खेल कथाओं का निर्माण। जर्नल ऑफ पॉपुलर कल्चर, 56(3-4), 719-730. https://doi.org/10-1111/jpcu.13269
11. असुमी, के.एच., चौधरी, आर.डी., नाथ, एस.सी. और दत्ता, पी.पी. (2024)। भारतीय खेलों में कॉर्पोरेट प्रभाव : एक गहन अन्वेषण। इंटरनेशनल जर्नल ऑफ एप्लाइड रिसर्च, 10(2), 103-110. https://doi.org/10.22271/allresearch.2024.v10.i2b-11536
12. हांग, वाई. (2021). बॉलीवुड की ताकत : चीन में भारतीय सिनेमा के अवसरों, चुनौतियों और दर्शकों की धारणाओं पर एक अध्ययन। ग्लोबल मीडिया और चीन, 6(3), 345-363. https://doi.org/10.1177/20594364211022605
13. राजाध्यक्ष, ए. (2016)। भारतीय सिनेमा : बहुत संक्षिप्त परिचय। https://doi.org/10.1093/actrade/9780198723097-001-0001
14. रॉय, ए. जी. (2012). बॉलीवुड का जादू : देश और विदेश में

अभिषेक सिंह

सहायक प्राध्यापक, हिंदी विभाग

शहीद भगत सिंह महाविद्यालय (सांध्य),

दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

निराला कृत 'सरोज स्मृति' कविता में आत्मकथात्मकता

—डॉ. चन्दा

आत्मकथात्मकता किसी भी विधा का प्राणतत्व है। क्योंकि कोई भी रचनाकार जब तक आत्म से नहीं जुड़ता या जिसके लेखन में आत्मतत्व नहीं हैं वह रचना न तो अमर हो सकती है और न ही पाठक के ह्रदय में स्थान ले पाएगी। कविता की सार्थकता ही इस बात पर निर्भर करती है कि वह पाठक की संवेदना से कितने भीतर तक जुड़ पाई। निराला की 'राम की शक्तिपूजा', 'सरोज स्मृति', जय शंकर प्रसाद कृत 'कामायनी', रामधारी सिंह दिनकर की 'रश्मिरथी', धूमिल की 'पटकथा', अज्ञेय की 'असाध्यवीणा' ये वो कविता है जो अपनी संरचना में लंबी कविता होते हुए भी पाठक के ह्रदय को छू लेती है और उसके स्मृति-पटल पर अंकित हो जाती है। पाठक को पूरी कविता समय के बीतने पर भले न याद रहे किंतु उसकी संवेदना और कुछ पंक्तियाँ प्रवाह के साथ अवश्य याद रहती है, जैसे कामायनी में ''औरो को हँसते देखे मनु हसों और सुख पाओ, अपने सुख को विस्तृत कर लो जग को सुखी बनाओ।'' इसी प्रकार निराला कृत 'राम की शक्तिपूजा' की आरंभिक पंक्तियाँ 'रवि हुआ अस्त' तथा 'शक्ति की करो मौलिक कल्पना' जैसी जादुई पंक्तियाँ कोई भला कैसे भूल सकता है।

आत्मतत्व के बिना साहित्य की रचना तुकबंदी समान है। आधुनिक काल में विधा के रूप में आत्मकथा हमारे सामने आती है, किंतु आत्मकथाओं में जो आत्म उपस्थित है वह 'आत्मतत्व' कविता में भी उपस्थित रहा। छायावादी कविताओं में तो यह आत्मतत्व और अधिक संवेदनात्मक अनूभुति के साथ प्रकट हुआ। जयशंकर प्रसाद की कविता 'आत्मकथ्य', 'आँसू', महादेवी वर्मा कृत 'मैं नीर भरी दुख की बदली', निराला कृत 'सरोज स्मृति', तुलसीदास, 'राम की शक्ति पूजा' में जो मार्मिक वेदनाएँ अभिव्यक्त हुई वह प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में लेखक की ही आत्म-पीड़ा है। जो कविता के माध्यम से अभिव्यक्त हुई।

'सरोज स्मृति' महाप्राण सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' द्वारा रचित एक लंबी कविता और एक शोकगीत है। निराला ने इस शोकगीत की रचना 1935 ई. में अपनी पुत्री (सरोज) के असमय निधन की करुण व्यथा एवं पीड़ा में की। सरोज निराला की एकमात्र कन्या थी। युवावस्था में ही पत्नी की मृत्यु के पश्चात् उनकी पुत्री ही उनके जीवन का सहारा और संबल थी। मात्र अट्ठारह वर्ष की आयु में पुत्री के निधन ने निराला को तोड़कर अकेला असहाय कर दिया। इस कविता में निराला ने पुत्री सरोज के जन्म से लेकर अन्तिम तर्पण तक उसका बचपन, तरुण जीवन, विवाह एवं बीमारी, मृत्यु सभी स्मृतियों को मार्मिकता से अभिव्यक्त किया है। निराला का पूरा जीवन संघर्षों, आर्थिक विपन्नताओं, सामाजिक विद्रोहों में बीता। पत्नी की मृत्यु एवं आर्थिक चुनौतियों के कारण निराला अपनी पुत्री के पालन-पोषण में असमर्थ थे इसलिए बचपन से सरोज अपनी नानी के पास रही। पुत्री के लिए निराला जीवन भर वो कर्तव्य पूरे न कर सके जो वे चाहते थे। इसका दुख भी उन्हें आजीवन रहा। कविता में निराला अपनी भाग्यहीनता, असमर्थता, विवशता को भी व्यक्त करते हैं-

''धन्ये, मै पिता निरर्थक था,
कुछ भी तेरे हित न कर सका।
जाना तो अर्थागमोपाय,
पर रहा सदा संकुचित - काय

लख कर अनर्थ आर्थिक पथ पर
हारता रहा मैं स्वार्थ- समर।
शुचिते, पहनाकर चीनांशुक
रख सका न तुझेसे अतः दधिमुख''[1]

निराला गरीबी की विवशता के कारण अपनी पुत्री को अपनी सास के पास भेजते हैं। जिस कारण अपनी पुत्री को बड़ा होते देखने के सुख से भी वंचित रहते हैं। वह उससे कभी-कभी मिलने जाते तो आर्थिक धनाभाव के कारण वे कभी उसके लिए ज्यादा कुछ खरीद नहीं पाए ये दुख भी उन्हें सालता रहा। इस विषय पर समीक्षक नंद किशोर नवल लिखते हैं-''उन्हें यह जोरों से अहसास होता है कि सरोज के प्रति वे अपने पिता-धर्म का निर्वाह न कर सके, क्योंकि न उसे वो अच्छा वस्त्र पहना सके, न उसके लिए अच्छा आहार जुटा सके।''[2]

'सरोज-स्मृति' कविता में निराला की जो शोकाकुल पीड़ा एवं वेदना है वह उनके संपूर्ण जीवन की अपनी आत्म पीड़ा है इसलिए इसे आत्मकथात्मक कविता कहा जाए तो अनुचित नहीं होगा। 'सरोज स्मृति' कविता में निहित निराला की आत्म पीड़ा पर समीक्षक नंद किशोर नवल लिखते हैं-''सरोज-स्मृति स्पष्टतः निराला की एक आत्मकथात्मक कविता है, यानि ऐसी कविता जिसकी सामग्री उन्होंने अपने जीवन से ली।''[3]

सरोज-स्मृति में निराला का रचनात्मक संघर्ष और उसके लिए समर विद्यमान है। निराला आजीवन अपनी आर्थिक, पारिवारिक समस्याओं से घिरे रहे। अपनी पुत्री सरोज के असमय निधन ने निराला को भीतर तक झकझोर दिया। सरोज-स्मृति कविता में निराला के आत्म-संघर्ष पर आलोचक दूधनाथ सिंह लिखते हैं-''सरोज-स्मृति एक आत्म चरितात्मक कविता है। कवि के जीवन वृत्त का एक मार्मिक प्रसंग ही इसका इतिवृत्त है। इसलिए कवि को यहाँ किसी पात्र के माध्यम से प्रतीकार्थ रूप में अपने व्यक्तित्व को नियोजित नहीं करना पड़ा। बल्कि अपनी इस जीवनीपरक, आत्म-स्वीकार की कविता में कवि सदेह स्वयं उपस्थित है। इसलिए यहाँ उसका समर, संघर्ष, उसकी उदासी या उसकी खिन्नता और उसका मानसिक अंधकार 'राम' या 'तुलसी' के भीतर से नियोजित प्रतीक भाषा में अभिव्यक्त न होकर एक मार्मिक तथ्य कथन के रूप में व्यक्त होता है। यहाँ समर स्पष्ट है।''[4]

पिता के जिंदा रहते युवा संतान मृत्यु को प्राप्त हो जाए इससे बड़ा वज्रपात एक पिता के लिए नहीं हो सकता। अट्ठारह-उन्नीस वर्ष की अवस्था जिसमें व्यक्ति के जीवन का नया अध्याय शुरू होता है उस अवस्था में उसका दुनिया छोड़ जाना पिता के लिए असहनीय है। कविता का आरंभ ही निराला की इस गहरी वेदना से होता है।

''उनविंश पर जो प्रथम चरण
तेरा वह जीवन - सिंधु-तरण
तनये, लीकर कपात तरुण
जनक से जन्म की विदा अरूण।
गीते, मेरी, तज रूप-नाम
वर लिया अमर शाश्वत विराम।''[5]

निराला के जीवन की सबसे बड़ी पीड़ा ही सरोज का असमय दुनिया से चले जाना है। 'उनविंश' अर्थात् उन्नीसवें वर्ष में जब सरोज कदम रखती है तब तेरा वह 'जीवन-सिंधु-तरण' अर्थात् तब वह जीवन रूपी सागर को पार कर लेती है और मृत्यु को वरण करते हुए जनक यानि पिता से विदा ले लेती है। निराला की इस वेदना पर आनंदप्रसाद दीक्षित लिखते हैं-''निराला के शोकगीत का आलंबन उनकी पुत्री सरोज हैं, जिसका देहांत अट्ठारह वर्ष की अल्पायु में हो गया। विषम परिस्थितियों के शिकार निराला के लिए उसका देहांत मर्म पीड़ा सिद्ध हुआ। सरोज को माँ का सुख न मिला, वह नानी की गोद में पलती रही, वही बाल्यकाल की ड्योढ़ी लांघकर वह तरूणाई की देहरी पर पहुँची। विपन्न विद्रोही पिता ने किसी भाँति उसका विवाह किया, परंतु वह अधिक दिन जीवित ही न रह सकी। पिता के सामने पुत्र अथवा पुत्री की मृत्यु हो जाए, तरूण संतान उठ जाए, इससे अधिक घातक प्रहार और क्या हो सकता है।''[6]

सरोज के असमय निधन की पीड़ा पर आलोचक मलयज लिखते हैं-''सरोज के जीवन के अट्ठारह वर्ष गीता के अट्ठारह अध्याय है, जिन्हें पूरा करने के बाद साधारण 'मौत' नहीं अमर शाश्वत विराम मिलता है। जीवन एवं ऊर्ध्वमुख 'सागर' है और 'मृत्यु' एक नौका, जो उस जीवन के पार पूर्ण अलोक वरण तक ले जाती है।''[7]

सरोज स्मृति में निराला अपने रचनात्मक संघर्ष के दौरान संपादकों की उपेक्षा, अपने समकालीन कवियों एवं आलोचकों के उपहास से भी आहत थे। निराला हिन्दी में मुक्त छंद के प्रणेता थे। उन्होंने मानना था कि जिस तरह मनुष्य की मुक्ति होती है उसी तरह कविता की भी मुक्ति

होती है। निराला ने कविता को छंदों के बंधन से मुक्त किया, कविता में इस नयेपन के कारण निराला को अपने समकालीन लेखकों से उपेक्षा भी झेलनी पड़ी, संपादक गण भी उनकी रचनाएँ प्रकाशित करने से मना कर देते थे, किंतु निराश होने के उपरांत भी निराला अबाध गति से रचनाएँ लिखते रहे–

''तब भी मैं इसी तरह मस्त
कवि-जीवन में व्यर्थ भी व्यस्त;
लिखता अबाध गति मुक्त छंद
पर संपादक-गण निरानंद
वापस कर देते पढ़ सत्वर
रो एक पंक्ति - दो में उत्तर।
लौटी रचना लेकर उदास
ताकता हुआ मैं दिशाकाश।''[8]

निराला की पत्नी का विवाह के कुछ समय बाद ही स्वर्गवास हो गया था। उनके आत्मीय जनों ने उन्हें कई बार पुर्नविवाह के लिए मनाया, निराला जीवन भर अकेले रहे किंतु उन्होंने पुत्री सरोज का साथ ही केवल वरण किया और दूसरा विवाह नहीं किया–

''खण्डित करने को भाग्य अंक;
देखा भविष्य के प्रति अशंक।
इससे पहले आत्मीय स्वजन
सस्नेह कह चुके थे, जीवन
सुखमय होगा, विवाह कर लो
जो पढ़ी लिखि हो सुन्दर हो
आये ऐसे अनेक परिणय,
पर विदा किया मैंने सविनय॥''[9]

निराला आजीवन वैधन्य जीवन जीते हैं। सरोज के बड़ी होने निराला की एक बड़ी चिंता उसके विवाह के लिए योग्य वर खोजने की है। चूंकि निराला गरीब थे इसलिए उनके पास धनाभाव की समस्या है। निराला ने जैसे-तैसे अपनी पुत्री के विवाह का प्रबंध किया। जिसमें निराला पिता भी थे और पण्डित भी। बिना किसी धूम-धाम व स्वजन के निमंत्रण के निराला ने विवाह के सभी रूढ़ि बंधन तोड़कर नए तरह से पुत्री का विवाह किया।

''हो गया ब्याह, आत्मीय स्वजन
कोई थे नहीं, न आमंत्रण
था भेजा गया. विवाह - राग
भर रहा न घर निशि - दिवस - जाग ।...
माँ की कुल शिक्षा मैंने दी,
पुष्प सेज तेरी स्वयं रची,
सोचा मन में वह शकुंतला
पर पाठ अन्य यह, अन्यकला।''

निराला ने जिन परिस्थितियों में पुत्री सरोज का विवाह किया उसमें घर में कोई उत्सव, गीत, रौनक नहीं एक उदासी और मौन है। आत्मीय स्वजन के नहीं होने के कारण निराला माँ, पिता और परिजन तथा सखी सभी की भूमिका अदा करते हैं। इसके बाद सरोज-स्मृति का अन्तिम दृश्य उपस्थित होता है। जिसमें सरोज के उपरांत व्याधि एवं लंबे समय से बीमार रहने के कारण मृत्यु को प्राप्त हो जाती है। सरोज की मृत्यु निराला को गहरे शोक में भर देती है–

''मुझे भाग्यहीन की तू संबल
युग वर्ष बाद जब हुई विकल,
दुख ही जीवन की कथा रही
क्या कहूँ जो आज, जो नहीं कहीं।''[10]

'युग वर्ष बाद जब हुई विकल' के बाद कुछ अनकहा रह गया है। निराला के पास अब शब्द नहीं बचे इसलिए वे कहते हैं कि 'दुख ही जीवन की कथा रही।' यह कहते-कहते कवि चुप हो जाता है और चुप होकर जितना अधिक कह जाता है, उतना कहकर भी नहीं कह पाता।

कविता के अंत में कवि का कहना है कि 'हो भृष्ट शीत के-से शतदल, कन्ये गत कर्मों का अर्पण कर करता मैं तेरा तर्पण!' में निराला की रचनात्मकता के विनाश और तर्पण की इच्छा का यह जर्जर-आवेश निराला के मन की गहरी यातना का प्रतीक है। इस संपूर्ण रचना-कर्म से उन्हें क्या मिला? क्या कला और रचना के प्रति अनंत आस्था, संपूर्ण आत्म समर्पण सांसारिक स्तर पर एक प्रकार का निरंतर चलने वाला आत्महनन नहीं साबित हुआ, जिसका अंत उनकी पुत्री की मृत्यु, आर्थिक विपन्नता और अंततः मानसिक विशृंखलता में हुआ। निराला का यह दुःख अंधकार की सहज आत्म स्वीकृति है।

'सरोज स्मृति' केवल एक कविता नहीं है, बल्कि एक पिता के जीवन संघर्षों, करुणा व पीड़ा की वेदनामयी अभिव्यक्ति है। यह कविता न केवल निराला की व्यक्तिगत पीड़ा को व्यक्त करती है, बल्कि जीवन, समाज और मृत्यु के गंभीर प्रश्नों को भी उठाती है। 'सरोज स्मृति' में निराला की अपनी आत्मकथा व जीवन संघर्ष भी अभिव्यक्त हुए हैं। एक प्रकार के सरोज-स्मृति निराला के गहरे आत्म-साक्षात्कार की कविता है जिसमें निराला ने दोहरे

स्तर पर अपने को छुआ है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. राग-विराग, संपा. रामविलास शर्मा, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद (उ.प्र.), संस्करण-2007, पृष्ठ 72
2. निराला कृति से साक्षात्कार, नंदकिशोर नवल, सारांश प्रकाशन प्रा. लि., दिल्ली, प्रथम संस्करण-1997, पृष्ठ 167
3. निराला कृति से साक्षात्कार, नंदकिशोर नवल, सारांश प्रकाशन, प्रा. लि. दिल्ली, प्रथम संस्करण-1997, पृष्ठ 158
4. निराला आत्महंता आस्था, दूधनाथ सिंह, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद (उ.प्र.), प्रथम संस्करण-1972, आठवां संस्करण-2014, पृष्ठ 147
5. राग-विराग, संपा. रामविलास शर्मा, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद (उ.प्र.), संस्करण-2007, पृष्ठ 81
6. निराला कवि - छवि, संपा. नंदकिशोर नवल, प्रकाशन संस्थान, दिल्ली, पृष्ठ 117
7. वही, पृष्ठ 128
8. राग-विराग, संपा. रामविलास शर्मा, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद (उ.प्र.), संस्करण-2007, पृष्ठ 84
9. वही, पृष्ठ 85
10. वही, पृष्ठ 91

डॉ. चन्दा

हिंदी विभाग,

आत्मा राम सनातन धर्म महाविद्यालय,

दिल्ली विश्वविद्यालय

ई मेल : chandarajdhanidu@gmail.com

महाभारतकालीन समाज और नारी

— उमा महेश्वर पाण्डेय

भारतीय वाङ्मय का सम्पूर्ण रस परिपाक् हमें 'महाभारत' में दिखाई देता है। जीवन का जितना विस्तार और अनुभव की जितनी गहराई हमें 'महाभारत' में मिलती है, अन्यत्र कहीं भी मिलना असंभव है। 'महाभारत' आज भी हमारी समूची जीवन-धारा को प्रभावित ही नहीं करती वरन् समय-समय पर उसे गति भी प्रदान करती है। इसके विस्तार के बारे में इसके रचनाकार की स्वयं की घोषणा है-

धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित।[1]

अर्थात् ''हे भरतश्रेष्ठ! धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के संबंध में जो कुछ इस महाभारत में कहा गया है, वह अन्यत्र कहीं नहीं मिलेगा। जो इस (महाभारत) में नहीं है, वह कहीं भी नहीं है।''

'महाभारत' का यही विस्तार उसे उस युग की सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक, आध्यात्मिक और सांस्कृतिक चेतना से सम्प्रक करता है। अतः 'महाभारत' समग्र जीवन की यथार्थ अभिव्यक्ति का दूसरा नाम है। यह ग्रन्थ जगत् और जीवन के अन्तर्द्वन्द्वों का इतना सटीक वर्णन करता है कि मानो जीवन की सारी रस-सामग्री यहीं से निसृत हुई हो। इस ग्रन्थ की प्राचीनता पर विद्वान् मतैक्य नहीं हैं। फिर भी यह ग्रन्थ 'रामायण' के बाद का मालूम पड़ता है। इसमें इतिहास, पुराण, कथा, मिथक, उपदेश तत्त्व-संबंधी चिंतन आदि सभी एक साथ घुल-मिल गये हैं। अतः 'महाभारत' सम्पूर्ण साहित्य है जिसमें जीवन के विविध आयाम सरलता से परिलक्षित किये जा सकते हैं। हजारी प्रसाद द्विवेदी जी का मानना है कि-''असल में महाभारत उस युग की ऐतिहासिक, नैतिक, पौराणिक, उपदेशमूलक और तत्ववाद-संबंधी कथाओं का विशाल विश्वकोश है। भारतीय दृष्टि से महाभारत पाँचवाँ वेद है, इतिहास है, स्मृति है (शंकराचार्य), शास्त्र है और साथ ही काव्य है।''[2]

महाभारतकालीन समाज पारंपरिक वर्णाश्रम व्यवस्था से संचालित था। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र चारों वर्णों की जीविका जन्म से निर्धारित थी। हालांकि यह पारंपरिक वर्ण-व्यवस्था धीरे-धीरे बदलाव की ओर अग्रसर हो चुकी थी। अब जन्मगत वर्ण-व्यवस्था कर्म व संस्कार से परिचालित होने लगी थी। ब्राह्मण द्रोण अब पूरी तरह क्षत्रियोचित कर्म में प्रवृत्त हो चुके थे। सूत-पुत्र कर्ण और एकलव्य भी धनुष विद्या में निपुण थे। इस तरह समाज में जन्म की नहीं, कर्म की प्रतिष्ठा धीरे-धीरे हो चली थी।

महाभारतकालीन समाज धर्म पर अवलंबित था। धर्म समाज का मूल था। राजा से लेकर आम-जनता अपने-अपने धर्म से आबद्ध थी। समाज में किसी को भी धर्मविरुद्ध आचरण करने का मनाही थी। इस धर्म का मूल तत्त्व अहिंसा और शांति की स्थापना थी। समाज में शांति सर्वदा कायम रहे, धर्म का यही मूल मतव्य था। युद्ध और युद्ध जनित हिंसा धर्म विरुद्ध कार्य था।

अहिंसा सकलो धर्मो हिंसाधर्मस्तथाहितः।
सत्यं तेऽहं प्रवक्ष्यामि यो धर्मः सत्यवादिनाम्॥[3]

अर्थात् अहिंसा ही सम्पूर्ण धर्म है। हिंसा अधर्म है और अधर्म अहितकारक होता है। अब मैं तुम्हें सत्य का महत्त्व बताऊँगा, जो सत्यवादी पुरुषों का परम धर्म है।

यह सम्वाद भीष्म और युधिष्ठिर के बीच का है। भीष्म धर्म और सत्य के महत्त्व पर प्रकाश डाल रहे हैं। इस

प्रकार हम कह सकते हैं कि महाभारतकालीन समाज में सत्य, धर्म, अहिंसा के प्रतिपादन पर जोर था। जिससे समाज की उन्नति सम्भव थी। वर्तमान समाज महाभारतकालीन समाज से सत्य और धर्म की प्रेरणा ग्रहण कर सकता है।

महाभारतकालीन समाज राजतंत्रात्मक था। लेकिन राजा निरंकुश नहीं था। वह अपने उत्तराधिकारी का चुनाव वंशानुगत करता था लेकिन कोई जरूरी नहीं था कि वह अपने औरस पुत्र को ही राजगद्दी के लिए चुने। राजा का चुनाव उसकी योग्यता और उसके गुण के आधार पर होता था। राजा अपने राज्य संचालन के लिए मन्त्रिमण्डल का संघटन करता था। यह मंत्रिमण्डल बिना किसी भय या पक्षपात के राजा को उसके हित और राज्य के कल्याण के लिए सुझाव देता था। इस प्रकार राजा अपने राजधर्म से आबद्ध था। प्रजा के रंजन और प्रजा के सुख में ही राजा का हित निहित था।

आदावेव कुरूश्रेष्ठ राजा रंजनकाम्यया।
देवतानां द्विजानां च वर्तितव्यं यथाविधि॥[4]

कुरूश्रेष्ठ! राजा को सबसे पहले प्रजा का रंजन अर्थात् उसे प्रसन्न रखने की इच्छा से देवताओं और ब्राह्मणों के प्रति शास्त्रोक्त विधि के अनुसार बर्ताव करना चाहिए।

इस प्रकार 'महाभारत' में वर्णित राजधर्म का मूल उद्देश्य प्रजा और राज्यहित सर्वेपरि था। व्यक्ति की महत्ता राज्य से सर्वोपरि नहीं हो सकती, यही महाभारतकालीन राजधर्म की मूल आत्मा थी। 'महाभारत' में राजतंत्र के साथ गणराज्य की महत्ता और उपादेयता पर भी प्रकाश डाला गया है। महाभारतकालीन समाज संघ और समुदाय को परस्पर महत्त्व देता था। संघ सामाजिक विकास के लिए आवश्यक होता है। लेकिन संघ में आपसी फूट, वैरभाव आदि का लोप होना चाहिए। इन्हीं कारणों से संघ नष्ट होते हैं। संघ-राज्य के लिए आवश्यक है कि वह सैनिकों को सभी सुविधाएँ समय-समय प्रदान करें, अन्यथा उनमें परस्पर फूट की गुंजाइश होती है और संघ-राज्य शत्रु सैनिकों के अधीन हो जाते हैं। महाभारतकार का मानना है कि—

भेदे गणा विनेशुर्हि भिन्नास्तु सुजयाः परैः।
तस्मात् संघातयोगेन प्रयतेरन् गणाः सदा॥[5]

अर्थात् आपस में फूट होने से ही संघ या गणराज्य नष्ट हुए हैं। फूट होने पर शत्रु उन्हें अनायास ही जीत लेते हैं; अतः गणों को चाहिए कि वे सदा संघबद्ध-एकमत होकर ही विजय के लिए प्रयत्न करें।

वर्तमान गणराज्यों के लिए भी यह विचार प्रासंगिक है। एकता ही उन्नति का मूल मार्ग है। एकता के अभाव में कोई भी राज्य बिखर जाता है। संघबद्ध होकर कोई भी गणराज्य अपने अभीष्ट को प्राप्त करता है। महाभारतकालीन समाज में माता-पिता और गुरू की सेवा का बहुत ही महत्त्व था। राज समाज के सदस्य भी गुरू के प्रति विनतभाव से श्रद्धावनत होते थे। गुरू मार्गदर्शक और मुक्ति का पथप्रदर्शक था। भीष्म, युधिष्ठिर से कहते हैं कि—

मातापित्रोर्गुरूणां च पूजा बहुमता मम।
इह युक्तो नरो लोकान् यशश्च महदश्नुते॥[6]

हे राजन्! मुझे तो माता-पिता तथा गुरूजनों की पूजा ही अधिक महत्त्व की वस्तु जान पड़ती है। इस लोक में इस पुण्य कार्य में संलग्न होकर मनुष्य महान् यश और श्रेष्ठ लोक पाता है।

इस प्रकार भीष्म जी का मानना है कि माता-पिता और गुरू मनुष्य की मुक्ति के दाता हैं। इन्हीं की सेवा मनुष्य की सबसे बड़ी सेवा है। वे आगे कहते हैं कि—

पिता वै गार्हपत्योऽग्निर्मातारग्निर्दक्षिणः स्मृतः।
गुरूराहवनीयस्तु साग्नित्रेता गरीयसी॥[7]

पिता गार्हपत्य अग्नि हैं, माता दक्षिणाग्नि, मानी गयी है और गुरू आहवनीय अग्नि का स्वरूप हैं। लौकिक अग्नियों से माता-पिता आदि त्रिविध अग्नियों का गौरव अधिक है।

महाभारतकालीन समाज गुरू को माता-पिता से ऊँचा दर्जा देता है। महाभारतकार की स्पष्ट घोषणा है कि माता-पिता केवल शरीर प्रदान करते हैं, परन्तु गुरू अपने ज्ञान से शिष्य को दूसरा जन्म देता है। जिससे उसे द्विजत्व की प्राप्ति होती है और वह संसार की समस्त तृष्णाओं से मुक्त होता है। इस प्रकार गुरू, शिष्य की मुक्ति का पथ तैयार करता है।

शरीरमेव सृजतः पिता माता च भारत।
आचार्यशिष्टा या जातिः सा दिव्या साजरामरा॥[8]

भारत! पिता और माता केवल शरीर को ही जन्म देते हैं; परन्तु आचार्य का उपदेश प्राप्त करके जो द्वितीय जन्म उपलब्ध होता है, वह दिव्य है, अजर-अमर है।

इस प्रकार महाभारतकालीन समाज में माता-पिता और गुरू का जो सम्मान देखने को मिलता है, वह वर्तमान समाज के लिए ग्रहणीय और अनुकरणीय है। आज जहाँ

समाज में ज्ञान कम अहंकार ज्यादा दिखाई देता है, उसका कारण गुरू के प्रति पूज्यभाव की बुद्धि का अभाव होना। कोई भी व्यक्ति अपने मूल से बड़ा कैसे हो सकता है? जब तक इस श्रद्धाभाव का उदय मनुष्य के हृदय में नहीं होगा, तब तक मनुष्य अपनों से बड़ों का सम्मान नहीं करेगा।

महाभारतकालीन समाज में मूर्खों की निदा और उपेक्षा की बात कही गयी है। मूर्खों की उपेक्षा करनी चाहिए। उनसे वाद-विवाद नहीं करना चाहिए।

उपेक्षितव्यो यत्नेन तादृशः पुरूषाधमः।
यद् यद् ब्रूयादल्पमतिस्तत्तदस्य सहेद्बुधः॥[9]

ऐसे नराधम की यत्नपूर्वक उपेक्षा कर देनी चाहिए। मूर्ख मनुष्य जो कुछ भी कह दे, विद्वान पुरुष को वह सब सह लेना चाहिए।

महाभारतकालीन समाज में दण्ड का विधिवत् विधान था। राजा दण्ड को धारण करता था। दण्ड का स्वरूप कैसा होना चाहिए। उसके नाम, लक्षण, प्रभाव और प्रयोग का वर्णन हमें 'महाभारत' में स्पष्ट रूप से मिलता है। यह राजतंत्र और गणतंत्र दोनों के लिए समान रूप से उपयोगी है। यह दण्ड धर्म की रक्षा और राज्य के हित के लिए जरूरी है।

ईश्वरः पुरूषः प्राणः सत्त्वं चित्तं प्रजापतिः।
भूतात्मा जीवन इत्येवं नामाभिः प्रोच्यतेऽष्टभिः॥[10]

ईश्वर, पुरुष, प्राण, सत्त्व, चित्त, प्रजापति, भूतात्मा तथा जीव- इन आठ नामों से दण्ड का ही प्रतिपादन किया जाता है। अतः इन दण्डों के ठीक-ठीक उपयोग होने पर राज्य में धर्म, अर्थ और काम की सिद्धि सदा होती है। इसलिए दण्ड की आवश्यकता पड़ती है। राज्य बिना दण्ड के दुराचारी हो जाता है।

दण्डे त्रिवर्गः सततं सुप्रणीते प्रवर्तते।
दैवं हि परमो दण्डो रूपतोऽग्निरिवोत्थितः॥[11]

अर्थात् दण्ड का ठीक-ठीक उपयोग होने पर राजा के धर्म, अर्थ और काम की सिद्धि सदा होती रहती है। इसलिए दण्ड महान् देवता है, यह अग्नि के समाज तेजस्वी रूप से प्रकट हुआ है।

किसी भी समाज की प्रगतिशील चेतना हम उस समय के समाज में स्त्रियों की स्थिति के अध्ययन से पता करते हैं। समाज में स्त्रियों के शिक्षा और अधिकार प्राप्ति की स्थिति क्या है? राजव्यवस्था में उनका योगदान क्या है? नीति-निर्माण में उनकी भूमिका क्या है? आदि स्त्री-विषयक स्थितियों का अध्ययन करते हैं। इसी परिप्रेक्ष्य में महाभारतकालीन समाज में स्त्रियों की स्थिति का अध्ययन जरूरी हो जाता है। तभी उस कालखण्ड की समूची चेतना का ज्ञान हमें प्राप्त होगा।

महाभारतकालीन समाज में स्त्रियों की स्थिति का पता हमें अधिकतर राज-कुल की स्त्रियों से ही चलता है। इस काल-खण्ड की स्त्रियाँ शिक्षा, भक्ति, अस्त्र-शस्त्र संचालन आदि प्रकार की विद्या ग्रहण करती थीं। हालांकि समाज के अन्य वर्गों की स्त्रियों में शिक्षा, ज्ञान और किसी तरह के शस्त्र विद्या की कोई जानकारी नहीं मिलती है।

महाभारतकालीन समाज पितृप्रधान था। फिर भी स्त्रियाँ अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व रखती थीं। विवाह के लिए स्वयंवर की प्रथा प्रचलित थी। विवाह कन्या पक्ष द्वारा शुल्क लेकर किया जाता था। मद्रराज शल्य ने अपनी बहन माद्री का विवाह पाण्डु से शुल्क लेकर किया था। बहुपतित्व और बहुपत्नीत्व दोनों तरह की प्रथाएँ प्रचलित थीं। पाण्डु की दो पत्नी और द्रौपदी के पाँच पति होना इसका प्रमाण है।

महाभारत-काल के विवाह में सौन्दर्य, आकर्षण, साहचर्य जनित प्रेम और राजनैतिक सम्बन्धों की मधुरता आदि प्रमख कारण थे। राजनैतिक हित के साधनों में विवाह सर्वोत्तम माध्यम था। उस समय राजनीति, युद्धनीति का पर्याय था। विवाह स्वयंवर के द्वारा सम्पन्न होता था, परन्तु स्वयंवर सशर्त आयोजन होता था। स्वयंवर की शर्त प्रायः वीरता की कसौटी थी। द्रौपदी का स्वयंवर इस बात का प्रमाण है। द्रुपद, द्रौपदी के लिए योग्यवर की तलाश के साथ-साथ द्रोण संहारक धनुर्धर के भी खोज में थे।

इस समय तक बाल-विवाह, सती-प्रथा का कोई उल्लेख नहीं मिलता है। पिता के घर ऋतुमती होने के तीन वर्ष बाद कन्या को वर-निरूपण की स्वतंत्रता थी। अर्थात् किसी भी दशा में बाल-विवाह स्वीकार्य नहीं था-

त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत कन्या ऋतुमती सती।
चतुर्थे त्वथ सम्प्राप्ते स्वयं भर्तारमर्जयेत्॥[12]

इसी प्रकार सती-प्रथा का भी कोई प्रमाण नहीं मिलता है। कुछ आलोचक माद्री को सती की संज्ञा देते हैं। हालांकि यह निराधार है क्योंकि वह स्वयं को पाण्डु के मृत्यु का कारण मानती है इसलिए वह पाण्डु के साथ चितारोहण करती है न कि सती होती है। अगर माद्री सती

होती तो फिर कुंती को भी सती होना पड़ता। अतः महाभारत-काल में सती-प्रथा का कोई साक्ष्य नहीं मिलता है। इस समय सती शब्द का अर्थ-पवित्रता सूचक के रूप में ग्रहण किया जाता था।

महाभारत-काल में विधवा-विवाह जैसी कोई प्रथा का उल्लेख नहीं है। इस समय नियोग की प्रथा प्रचलित थी। जिसमें पति की मृत्यु अथवा पति की अक्षमता में सास अथवा पति की आज्ञानुसार स्त्री को पुत्र उत्पन्न करने के लिए कहा जाता था। नियोग प्रथा द्वारा उत्पन्न पुत्र को क्षेत्रज पुत्र माना जाता था। सत्यवती के कहने पर अंबिका और अंबालिका ने दो पुत्र उत्पन्न किये थे। पाण्डु के कहने पर कुंती ने तीन पुत्रों को जन्म दिया था।

राज-काज में महिलाओं की उपस्थिति प्रायः कम ही रही है। पटरानी के रूप में द्रौपदी का महत्त्व तो स्वीकार किया जाता है परन्तु राज्य-सत्ता सदैव पुरुषों के हाथ में ही रही। स्त्रियों की जीविका के कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलते हैं। प्रायः स्त्रियाँ गृह-कार्य में ही संलग्न थीं। वर्णाश्रम व्यवस्था लागू थी। हालांकि विशेष परिस्थिति में आपद्धर्म की व्यवस्था थी। इसी आपद्धर्म के अनुसार द्रोण ने ब्राह्मण धर्म का त्याग कर क्षत्रिय धर्म को ग्रहण कर लिया था। कर्ण ने भी इसी प्रकार क्षत्रियोचित धर्म को अपना लिया था।

महाभारतकालीन स्त्रियों ने इन्हीं परिस्थितियों से संघर्ष करते हुए अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व की घोषणा की। ये नारियाँ परिस्थिति से समझौता नहीं करती वरन् परिस्थिति के अनुरूप स्वयं को ढाल लेती है। अतः उनका चरित्र परिस्थिति के अनुरोध का नहीं, परिस्थिति के विरोध का परिणाम है।

कुल मिलाकर हम कह सकते हैं कि महाभारतकालीन समाज जागृत था। समाज में सभी वर्गों का सम्मान था। समाज में अतिथि सेवा, शरणागत की रक्षा, क्षमा, दया, दान, त्याग जैसे नैतिक मूल्यों पर जोर था। इसी प्रकार समाज में नारी का महत्त्वपूर्ण था। उसकी सम्पूर्ण सुरक्षा की जिम्मेदारी राज्य की थी। नारी का अपमान समाज में कत्तई स्वीकार्य नही था।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. महाभारत (आदि पर्व-62/53) गीताप्रेस प्रकाशन गोरखपुर।
2. हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य की भूमिका, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, बारहवाँ संस्करण : 2021, पृ. सं.-156 ।
3. महाभारत (शांतिपर्व-272/20) गीताप्रेस प्रकाशन, गोरखपुर।
4. वही (शांतिपर्व-56/12)
5. वही (शांतिपर्व-107/14)
6. वही (शांतिपर्व-108/3)
7. वही (शांतिपर्व-108/7)
8. वही (शांतिपर्व-108/19)
9. वही (शांतिपर्व-114/7)
10. वही (शांतिपर्व-121/41)
11. वही (शांतिपर्व-121/14)
12. वही (अनुशासनपर्व-44/16)

उमा महेश्वर पाण्डेय

शोधार्थी-हिन्दी विभाग

दीन दयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय

ग्राम-अछियाँ, पो.-मेहदावल,

जिला-संतकबीरनगर, पिन-272271

समकालीन भारतीय समाज और पुनर्जागरण

— *डॉ. सायमा इकबाल*
— *डॉ. राजकुमार राजन*

'पुनर्जागरण' शब्द का शाब्दिक अर्थ है पुनर्जन्म। इसका उपयोग 14वीं और 15वीं शताब्दियों में यूनानी और रोमन संस्कृति के पुनर्जागरण या पुनरुद्धार को दर्शाने के लिए किया जाता है। ब्रिटेन, इटली, जर्मनी और अन्य देशों में विश्वविद्यालयों की स्थापना के माध्यम से मध्य युग के दौरान यूरोप में शास्त्रीय साहित्य के अध्ययन को बहुत बढ़ावा मिला। मुद्रणालय और मुद्रित प्रकाशनों ने भी बौद्धिक गतिविधियों के इस विस्तार और ज्ञान के प्रसार में योगदान दिया। यह दुनिया और मनुष्य की खोज का समय था। पुनर्जागरण काल के दौरान साहित्य, चित्रकला, मूर्तिकला, वास्तुकला का विकास हुआ। इस अवधि के दौरान कोपरनिकस, गैलीलियो, टॉलेमी के नेतृत्व में महान खोजों ने कई लंबे समय से चली आ रही धार्मिक मान्यताओं को गलत साबित किया है।[1]

इस काल ने प्राधिकरण के प्रति निर्विवाद समर्पण को धीरे-धीरे आलोचनात्मक जांच और तर्कसंगत परीक्षा की भावना से बदल दिया गया। इन बदलावों ने लंबे समय से चली आ रही परंपराओं को कमजोर कर दिया और समाज पर चर्च के प्रभुत्व को कुछ हद तक कम कर दिया। उन्होंने मानवतावादी विचार और अधिक धार्मिक सहिष्णुता के उद्भव को भी बढ़ावा दिया। यह युग महत्वपूर्ण वैज्ञानिक सफलताओं, उल्लेखनीय भौगोलिक अन्वेषणों और भौतिक समृद्धि के विस्तार से चिह्नित था। सामूहिक रूप से, इन विकासों ने एक स्थायी बौद्धिक और सांस्कृतिक विरासत छोड़ी जिसने पूरे यूरोप में व्यक्तिवाद के विकास को आगे बढ़ाया। शास्त्रीय शिक्षा और संस्कृति में इस नए सिरे से रुचि के साथ-साथ कला, विज्ञान और प्रौद्योगिकी में प्रगति के परिणामस्वरूप रचनात्मकता और नवाचार का विकास हुआ जो आज भी हमारी दुनिया को प्रभावित कर रहा है।[2]

उन्नीसवीं शताब्दी भारत के इतिहास में एक अत्यंत महत्वपूर्ण काल था। यह वह समय था जब अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त भारतीयों ने भारतीय संस्कृति, समाज और धर्म में सुधार लाने का दृढ़ निश्चय किया। इन शिक्षित भारतीयों ने वैदिक और उपनिषदों की शिक्षाओं से प्रेरणा ली, साथ ही पश्चिमी वैज्ञानिक विचारों से भी प्रभावित हुए। हिन्दू नेताओं जैसे राजा राम मोहन राय, देवेंद्रनाथ टैगोर, केशवचंद्र सेन, एम.जी. रानाडे, आत्माराम पांडुरंग, स्वामी दयानंद सरस्वती, स्वामी विवेकानंद आदि ने हिन्दू धर्म और समाज में सुधार लाने का बीड़ा उठाया। उन्होंने जाति प्रथा, सती प्रथा, बाल विवाह, अस्पृश्यता, मूर्ति पूजा, बहुदेववाद आदि जैसी कुरीतियों और बुराइयों की तीव्र आलोचना की। इन सुधारकों का उद्देश्य हिन्दू धर्म को इन सामाजिक बुराइयों से मुक्त कर उसकी प्राचीन शुद्धता और गौरव को पुनर्स्थापित करना था। इस उद्देश्य की दिशा में चले इस आंदोलन को ''भारतीय पुनर्जागरण'' कहा जाता है, जिसने आगे चलकर भारतीय राष्ट्रीयता की नींव तैयार की।

पुनर्जागरण ने भारत की छवि को एक ऐसे देश के रूप में पेश किया, जिसकी बहुत लंबी परंपरा पुनर्जनन से गुजरने वाली थी। चाहे यह पुनर्जन्म यूरोप के साथ संपर्क का परिणाम था या भारत के सच्चे धर्म और दर्शन के पुनरुद्धार ने पश्चिम की ओर झुकाव रखने वाले उदारपंथियों को हिंदू पुनरुत्थानवादियों से अलग करने का काम किया, लेकिन बाद में जिन लोगों ने लक्ष्य के रूप में सुधार किया, उन्होंने पुनर्जागरण पैराडिग्म को स्वीकार करने में कोई समस्या नहीं दिखाई।[3] राममोहन राय, जिन्हें एंड्रयूज अपनी जीवंत मिशनरी दृष्टि के कारण एक भारतीय मार्टिन लूथर के रूप में

मानते थे, 1823 में पुनर्जागरण प्रतिमान का उपयोग करने वाले पहले व्यक्ति थे, जिस वर्ष उन्होंने लॉर्ड एमहर्स्ट को अपना प्रसिद्ध पत्र लिखा था, जिसमें पश्चिमी विज्ञान और साहित्य को शामिल करने की वकालत की गई थी। उन्होंने समकालीन भारत और पूर्व-बेकोनियन इंग्लैंड के बीच एक अलग समानता स्थापित की।[4]

भारतीय पुनर्जागरण ने राष्ट्रवाद को बहुत बढ़ावा दिया, जो मुक्ति की इच्छाओं के साथ-साथ राजनीतिक और सामाजिक चेतना में वृद्धि का संकेत देता है। ब्रिटिश औपनिवेशिक प्रशासन ने अपने साम्राज्यवादी चरित्र के बावजूद, राजनीतिक रूप से भारत को एकजुट किया, जिससे इस पुनरुत्थान को मजबूती मिली। राष्ट्रीय चेतना एक एकीकृत राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के उद्भव के माध्यम से आगे बढ़ी, जो पूर्व-पूंजीवादी से आधुनिक पूंजीवादी उत्पादन में बदलाव से प्रेरित थी। इसी तरह पश्चिमी शिक्षा ने एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई, लोकतांत्रिक और राष्ट्रवादी आदर्शों को पेश किया और प्रगतिशील पश्चिमी दर्शन और प्रभावशाली साहित्यिक और राजनीतिक विचार के संपर्क में एक शिक्षित बुद्धिजीवियों को विकसित किया।

पुनर्जागरण और मानवतावाद

पुनर्जागरण के केंद्र में मानवतावाद था, एक दार्शनिक आंदोलन जो व्यक्तिगत मनुष्यों के महत्व और उत्कृष्टता के लिए उनकी क्षमता को रेखांकित करता है। मानववाद प्राचीन यूनान और रोम की शास्त्रीय अवधारणाओं से प्रभावित था, जिन्होंने मानव तर्क, रचनात्मकता और स्वतंत्र इच्छा को ऊंचा किया। पुनर्जागरण मानवतावादियों का मानना था कि ये अवधारणाएँ समकालीन अस्तित्व पर लागू होती हैं, इस बात पर जोर देते हुए कि व्यक्तियों के पास अपने भाग्य का निर्धारण करने के लिए एजेंसी होती है। मानवतावाद मध्ययुगीन विश्व दृष्टिकोण की अस्वीकृति थी, जो मनुष्यों को त्रुटिपूर्ण और पापी प्राणियों के रूप में देखता था जो ईश्वर की इच्छा के अधीन थे।[5] पिको के ओरेशन ऑन द डिग्निटी ऑफ मैन (1486) में कहा गया है कि भगवान ने लोगों को पूर्वनिर्धारित दिव्य आदेशों के अधीन करने के बजाय अपनी प्रकृति और भाग्य को अपनाने की स्वतंत्रता दी।[6]

पुनर्जागरण मानवतावाद का दार्शनिक सार तीन परस्पर संबद्ध सिद्धांतों— व्यक्तिवाद, तर्कशीलता, और मानविकी के महत्व पर आधारित था। ये तीनों विचार एक-दूसरे के पूरक थे और उन्होंने एक ऐसे नवीन विश्व दृष्टिकोण को जन्म दिया जिसने मानव की सृजनात्मकता और संभावनाओं का उत्सव मनाया तथा तर्क और व्यक्तिगत अभिव्यक्ति पर बल दिया।[7] व्यक्तिवाद पुनर्जागरण मानवतावाद का एक केंद्रीय सिद्धांत था। मानवतावादियों का मानना था कि प्रत्येक व्यक्ति अद्वितीय है और उनकी अपनी विशेष प्रतिभा और क्षमताएँ हैं। उन्होंने एक पूर्व निर्धारित सामाजिक पदानुक्रम के विचार को अस्वीकार कर दिया, जो योग्यता के बजाय जन्म और स्थिति पर आधारित था। पुनर्जागरण मानवतावादियों ने शिक्षा और आत्म सुधार के महत्व पर जोर दिया, और उनका मानना था कि व्यक्तियों में अपने जीवन को आकार देने की शक्ति होती है।[8] पुनर्जागरण मानवतावाद में कारण एक और महत्वपूर्ण विचार था। मानवतावादी तर्क और आलोचनात्मक सोच की शक्ति में विश्वास करते थे, और उन्होंने अंधे विश्वास और अंधविश्वास को अस्वीकार कर दिया। उन्होंने तर्क को दुनिया को समझने और साक्ष्य और तर्क के आधार पर निर्णय लेने के लिए एक उपकरण के रूप में देखा। पुनर्जागरण मानवतावादियों को प्राकृतिक दुनिया में दिलचस्पी थी, और उनका मानना था कि वैज्ञानिक ज्ञान का उपयोग मानव जीवन को बेहतर बनाने के लिए किया जा सकता है।[9] मानविकी के अध्ययन को अन्य लोगों और संस्कृतियों के लिए सहानुभूति और समझ विकसित करने और मानव स्थिति की जटिलता और सुंदरता की सराहना करने के एक तरीके के रूप में देखा गया था।

वर्तमान राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय कानूनी व्यवस्था में मानवाधिकार, मानव गरिमा की रक्षा के लिए सदियों के मानवता के संघर्ष का परिणाम हैं। मानवाधिकारों पर बहस धार्मिक परंपराओं, राष्ट्रीय कानूनों और बौद्धिक कार्यों से प्रेरित हुई है। यूरोप में पुनर्जागरण के बाद अमेरिकी और फ्रांसीसी क्रांतियों ने कानून के शासन के तहत राष्ट्र-राज्य की स्थापना करके वैश्विक व्यवस्था को बदल दिया। हालाँकि, 19वीं शताब्दी के औपनिवेशिक विस्तार और शाही क्षेत्रों में व्यापक दुर्व्यवहार ने इसके मानवाधिकार सिद्धांतों को ग्रहण कर लिया। दो विश्व युद्धों के कारण हुई तबाही ने मानवाधिकारों को और भी कमजोर कर दिया, जिससे व्यापक सुरक्षा की आवश्यकता की वैश्विक समझ को बढ़ावा मिला। इसके परिणामस्वरूप 1948 में मानवाधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा और 1945 में संयुक्त राष्ट्र चार्टर का अनुसमर्थन हुआ।

प्रबोधन के दौरान, जॉन लॉक, वोल्टेयर और रूसो जैसे विचारकों ने पारंपरिक अधिकार को चुनौती देने वाले विचारों को आगे बढ़ाया। प्राकृतिक अधिकारों और सहमति से सरकार पर लॉक के सिद्धांत आधुनिक लोकतांत्रिक विचार को आकार देने में आधारभूत थे। उनके इस दावे ने कि व्यक्तियों के पास जीवन, स्वतंत्रता और संपत्ति के अंतर्निहित अधिकार हैं, राजनीतिक दर्शन के विकास को प्रभावित किया जो व्यक्तिगत स्वतंत्रता और स्वायत्तता को प्राथमिकता देते हैं। आधुनिक लोकतंत्र के सिद्धांत, जैसे कानून के समक्ष समानता, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता और राजनीतिक भागीदारी, नागरिक गुण और स्वायत्त व्यक्ति की पुनर्जागरण अवधारणाओं पर आधारित हैं। यह विचार कि अधिकार अलौकिक मंजूरी के बजाय शासित की सहमति से आता है, वैचारिक रूप से मानवतावादी विचारधारा के अनुरूप है।[10] उदाहरण के लिए, मनुष्य के अधिकारों की फ्रांसीसी घोषणा, जिसमें कहा गया है कि ''पुरुष पैदा होते हैं और अधिकारों में स्वतंत्र और समान रहते हैं'', स्पष्ट रूप से राजाओं के दिव्य विशेषाधिकार से इनकार करते हैं।

आधुनिक लोकतांत्रिक चिंतन, जिसमें रूसो और जे. एस. मिल के स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व के सिद्धांतों के साथ-साथ लिंकन के ''जनता का, जनता के द्वारा और जनता के लिए'' शासन की परिकल्पना निहित है, ने भारत की संवैधानिक और राजनीतिक यात्रा को गहराई से प्रभावित और दिशा प्रदान की है। भारत की मौलिकता ने जनसत्ता को विधि के शासन से, और स्वतंत्रता को सामाजिक न्याय से जोड़ा, जिससे मतभेदों का समाधान सहमति और संवाद के माध्यम से संभव हुआ। हमारी लोकतांत्रिक यात्रा ने सार्वभौमिक मताधिकार, सबसे लंबे संविधान, संघवाद, शक्तियों के विभाजन, भाषाई पुनर्गठन, पंचायती राज और जीवंत बहुदलीय गठबंधनों के साथ खुद को प्रतिष्ठित किया। आपातकाल जैसी असफलताओं के बाद भी बार-बार सत्ता के शांतिपूर्ण हस्तांतरण ने लचीलापन दिखाया। 2024 में 90 मिलियन मतदाताओं में से 640 मिलियन से अधिक भारतीयों ने स्वतंत्र और निष्पक्ष चुनावों में मतदान किया-मानव इतिहास में बिना किसी समानांतर के एक लोकतांत्रिक उपलब्धि।[11] महिलाओं की पूर्ण भागीदारी के बिना कोई भी लोकतंत्र संपूर्ण नहीं हो सकता है। भारत ने पंचायतों में एक तिहाई आरक्षण से लेकर आर्थिक सशक्तिकरण के लिए लक्षित कार्यक्रमों तक इसे लगातार आगे बढ़ाया है। संसद और राज्य विधानसभाओं में महिलाओं के लिए एक तिहाई सीटें सुनिश्चित करने के लिए पीएम मोदी द्वारा संचालित महिला आरक्षण अधिनियम (नारी शक्ति वंदना अधिनियम) एक ऐतिहासिक क्षण है। महिलाएँ आर्थिक अभिनेताओं के रूप में भी अग्रणी हैं: मुद्रा ऋण लाभार्थियों में अधिकांश महिलाएँ हैं; उज्ज्वला के माध्यम से लाखों लोगों ने स्वच्छ ऊर्जा तक पहुँच प्राप्त की है; संयुक्त आवास खिताबों ने स्वामित्व बढ़ाया है; और लक्षित कौशल और उद्यमिता योजनाओं ने एजेंसी का विस्तार किया है। यह लैंगिक न्याय को लोकतांत्रिक व्यवहार में शामिल करता है।

एक प्रमुख लोकतांत्रिक राष्ट्र के रूप में भारत का उभरना एक अनिश्चित विश्व में स्थिरता प्रदान करने वाला कारक है। भारत ने संयुक्त राष्ट्र, अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, विश्व बैंक और विश्व व्यापार संगठन जैसे वैश्विक संस्थानों में ग्लोबल साउथ की ओर से आवाज उठाई है, निर्णय-निर्माण में अधिक भागीदारी और वैश्विक शासन में नेतृत्व की मांग की है।

वैज्ञानिक दृष्टिकोण और नवाचार

पुनर्जागरण की जाँच और वैज्ञानिक प्रक्रियाओं की भावना ने अनुसंधान, अंतरिक्ष अन्वेषण, चिकित्सा और कृत्रिम बुद्धिमत्ता में आज की प्रगति के लिए आधार तैयार किया। 'वैज्ञानिक स्वभाव' की संकल्पना नेहरू ने 1946 में प्रस्तुत की थी। नेहरू (1946) के अनुसार, 'वैज्ञानिक स्वभाव' केवल प्रयोगशालाओं तक सीमित नहीं है, बल्कि जीवन की हर समस्या से निपटने का एक तरीका है। उनका कहना था कि जीवन और समाज की जटिल चुनौतियों का समाधान पाने के लिए व्यक्ति में विज्ञान जैसी साहसिकता, आलोचनात्मक दृष्टि और निरंतर सत्य की खोज की प्रवृत्ति होनी चाहिए। इसका अर्थ है कि हम बिना परखे किसी भी धारणा को स्वीकार न करें, नए तथ्यों के सामने पुराने निष्कर्षों को बदलने के लिए तैयार रहें, पूर्वाग्रहों के बजाय देखे-समझे तथ्यों पर भरोसा करें और अपने विचारों में अनुशासन बनाए रखें। नेहरू के लिए यही वैज्ञानिक स्वभाव आधुनिक जीवन के लिए अनिवार्य था।[12]

अक्षपद गौतम ने छठी शताब्दी ईसा पूर्व और दूसरी शताब्दी ईस्वी के बीच 'न्याय सूत्र' के बारे में लिखा था। सूत्रों ने सुझाव दिया कि किसी बात को एक तथ्य के रूप में स्थापित करने के लिए, व्यक्ति को निम्नलिखित चरणों

से गुजरना पड़ता है: प्रत्यक्षा (धारणा), अनुमाना (अनुमान), उपमाना (तुलना) और शब्द या अप्तवाक्य (गवाही)। यह आधुनिक वैज्ञानिक पद्धति के अनुरूप है। वास्तव में, पाठ में 'तर्क-विद्या' या बहस और 'वाद-विद्या' या चर्चा को भी शामिल किया गया था।[13] नोबेल पुरस्कार विजेता अमर्त्य सेन की 2005 की पुस्तक 'द आर्ग्यूमेंटेटिव इंडियन' प्राचीन भारत की सार्वजनिक संवाद और वैचारिक विविधता की परंपराओं की पड़ताल करती है और इन्हें राष्ट्र की पहचान का अहम् आधार मानती है। यह एक सर्वविदित तथ्य है कि भारत ने न केवल दार्शनिक ज्ञान, बल्कि बीजगणित, अंकगणित, शून्य संख्यात्मक, दशमलव प्रणाली और पारंपरिक चिकित्सा में भी योगदान दिया।

कोविड-19 के कारण वर्तमान महामारी के संदर्भ में संबंधित सरकारों द्वारा सामाजिक दूरी का पालन करने और मास्क पहनने के साथ-साथ बीमारी के निरंतर विश्लेषण और इसके टीके के बारे में अनुसंधान के लिए जारी किए गए निर्देश वैज्ञानिक दृष्टिकोण के अनुरूप हैं।

भारतीय कला और पुनर्जागरण कला के बीच का आमना सामना क्रमशः परन्तु गहरा हुआ। मुगल काल (16वीं से 18वीं शताब्दी) के दौरान भारतीय कला ने यूरोपीय यथार्थवाद और परिप्रेक्ष्य के तत्वों को शामिल करना शुरू किया, जो पहले पारंपरिक भारतीय कलात्मक परंपराओं के लिए विदेशी थे। मुगल सम्राट, विशेष रूप से अकबर और जहांगीर, कला के संरक्षक थे और नए विचारों और प्रभावों के लिए खुले थे।[14] औपनिवेशिक काल के दौरान पुनर्जागरण कला का प्रभाव महसूस किया जाता रहा, विशेष रूप से भारतीय कलाकारों के कार्यों में जो पश्चिमी शिक्षा और कलात्मक प्रशिक्षण से परिचित थे। ब्रिटिश औपनिवेशिक प्रशासन ने भारत में कला विद्यालयों की स्थापना की, जहाँ पाठ्यक्रम यूरोपीय शास्त्रीय परंपराओं से बहुत अधिक प्रभावित था। इस अवधि में भारतीय कलाकारों का उदय हुआ जिन्होंने भारतीय विषयों के साथ पुनर्जागरण तकनीकों को जोड़ा, कला की एक नई शैली का निर्माण किया जो भारतीय संस्कृति में आधुनिक और गहराई से निहित थी। भारत में, पुनर्जागरण का प्रभाव जामिनी रॉय और टी. वैकुंठम जैसे कलाकारों के कार्यों में देखा जा सकता है। जामिनी रॉय, जिन्हें अक्सर भारत में 'लोक पुनर्जागरण' के पिता के रूप में जाना जाता है, पारंपरिक बंगाली लोक कला और यूरोपीय आधुनिकतावाद दोनों से बहुत अधिक आकर्षित हुए।

नई तकनीकों और कलात्मक अभिव्यक्ति का संयोजन आज के 'डिजिटल पुनर्जागरण' में एक तुलनीय रचनात्मक विस्फोट कर रहा है। आभासी और संवर्धित वास्तविकता (वीआर/एआर) कृत्रिम बुद्धिमत्ता (एआई) और इंटरैक्टिव डिजिटल प्लेटफार्मों के उद्भव के कारण कलात्मक वातावरण एक बड़े परिवर्तन से गुजर रहा है। साल 2025 में मुंबई में आयोजित विश्व ऑडियो विजुअल एंटरटेनमेंट समिट (WAVES) भारत के मीडिया और मनोरंजन क्षेत्र के लिए एक ऐतिहासिक मोड़ साबित हुआ। सौ से अधिक देशों की भागीदारी वाले इस सम्मेलन ने भारत को रचनात्मकता, सांस्कृतिक संवाद, व्यावसायिक नवाचार और प्रभावशाली कहानी कहने का वैश्विक केंद्र के रूप में स्थापित किया।

शिक्षा और आलोचनात्मक चिंतन

ब्रिटिश आधुनिक शिक्षा प्रणाली, यद्यपि औपनिवेशिक स्वभाव की थी, फिर भी इसने भारत में वैज्ञानिक अनुसंधान और तार्किक चिंतन के विकास में अत्यंत महत्वपूर्ण योगदान दिया। इस नई चिंतनशील दृष्टि ने भारतीयों को पारंपरिक सामाजिक पदानुक्रमों और सांस्कृतिक रूढ़ियों पर प्रश्न उठाने के लिए प्रेरित किया, जिससे भारतीय पुनर्जागरण और राष्ट्रीय शिक्षा आंदोलन की वैचारिक नींव तैयार हुई। इस परिप्रेक्ष्य में राजा राममोहन राय, श्रीरामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानंद, एनी बेसेन्ट, रवीन्द्रनाथ टैगोर, श्री अरविंद घोष और महात्मा गांधी जैसे प्रमुख सुधारकों ने विविध शैक्षिक दर्शन प्रस्तुत किए, जिनका उद्देश्य पाश्चात्य वैज्ञानिक तर्कवाद और भारत की समृद्ध आध्यात्मिक तथा सांस्कृतिक परंपरा के मध्य संतुलन स्थापित करना था। अतः भारतीय शिक्षा की कोई भी समग्र समीक्षा इन सुधारकों के विचारों के अध्ययन और मूल्यांकन के बिना अधूरी मानी जाएगी।

21वीं सदी में, आलोचनात्मक सोच व्यक्तिगत और व्यावसायिक सफलता के लिए एक आवश्यक प्रतिभा बन गई है। यह व्यक्तियों को ज्ञान की जाँच, मूल्यांकन और एकीकरण करने, सूचित निर्णय लेने और रचनात्मक समस्या-समाधान को बढ़ावा देने के लिए सशक्त बनाता है। विज्ञान, प्रौद्योगिकी, अभियांत्रिकी और गणित (STEM) जैसे प्रायः तकनीकी माने जाने वाले क्षेत्रों में कला (Arts) को सम्मिलित करके STEAM शिक्षा (Science,

Technology, Engineering, Arts and Mathematics) एक समग्र ढांचा प्रस्तुत करती है, जो अंतर्विषयक शिक्षण और रचनात्मक खोज पर बल देती है। यह सैद्धांतिक ज्ञान को व्यावहारिक अनुप्रयोगों से जोड़ने को प्रोत्साहित करती है, जिससे विश्लेषणात्मक और सृजनात्मक दोनों प्रकार की क्षमताओं का विकास होता है। स्टीम शिक्षा में भारत की पारंपरिक रट्टे-आधारित शिक्षण प्रणाली को एक गतिशील, पूछताछ-संचालित प्रतिमान में बदलने की महत्वपूर्ण क्षमता है।[15]

असम स्थित अक्षर फाउंडेशन ने ग्रामीण क्षेत्रों के विद्यार्थियों के लिए एक नवोन्मेषी STEAM (विज्ञान, प्रौद्योगिकी, इंजीनियरिंग, कला और गणित) आधारित पाठ्यक्रम शुरू किया है। कला और पर्यावरण विज्ञान को एकीकृत करते हुए, विद्यार्थियों ने व्यावहारिक समाधान विकसित किए, जैसे कि कचरे में फेंके गए प्लास्टिक को ईको-ईंटों में बदलकर निर्माण कार्यों में उपयोग करना। यह पहल दर्शाती है कि किस प्रकार STEAM शिक्षा स्थानीय समुदाय की समस्याओं का समाधान करने के साथ-साथ विद्यार्थियों में आलोचनात्मक चिंतन और सृजनात्मकता को भी प्रोत्साहित कर सकती है। असम स्थित अक्षर फाउंडेशन का यह शैक्षिक मॉडल पारंपरिक अकादमिक अध्ययन को व्यावसायिक प्रशिक्षण और सामुदायिक विकास पहलों के साथ जोड़ता है। यह समग्र दृष्टिकोण भारत की राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 (NEP 2020) की भावना के अनुरूप है और महात्मा गांधी के 'नई तालीम' दर्शन से प्रेरित है, जो अनुभवात्मक और व्यावहारिक शिक्षा पर बल देता है।

उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक काल का भारतीय पुनर्जागरण आधुनिक भारत की बौद्धिक तथा सामाजिक नींव स्थापित करने वाला काल था, जिसने राष्ट्रवाद, शिक्षा तथा सामाजिक सुधार की भावना को प्रोत्साहित किया। वर्तमान समय में यही विरासत एक समकालीन "भारतीय पुनर्जागरण" के रूप में विकसित हो चुकी है, जो तीव्र आर्थिक विकास, प्रौद्योगिकीय क्रांति और सांस्कृतिक पहचान व वैश्विक प्रभाव के पुनर्निर्माण से चिह्नित है। यह आधुनिक पुनर्जागरण भारत के उदय को केवल एक सशक्त अर्थव्यवस्था के रूप में नहीं, बल्कि एक ऐसी संस्कृति के रूप में भी प्रतिबिंबित करता है जो वैश्विक मंच पर अपने गौरवपूर्ण स्थान को पुनः प्राप्त कर रही है।

संदर्भ सूची

1. Murthy, Y. S. R. (n.d.). Historical development of human rights: Developments between 1215 and 1689. In Philosophical foundations of human rights; Duties and responsibilities. INFLIBNET e-books. Retrieved from https://ebooks.inflibnet.ac.in/hrdp01/chapter/historical-development-of-human-rights/
2. Iyer, A. (2023). The Sea Both Giveth and Taketh Away: Hölderlin and Coetzee on the Philosophical Essence of the Refugee. Comparative and Continental Philosophy, 15(1), 99–111. https://doi.org/10.1080/17570638.2023.2238957
3. Chatterjee, K. K. (1992). The Indian Renaissance: European text and Indian context. Indian Literature, 35(4), 51–60. Sahitya Akademi. https://www.jstor.org/stable/23337230
4. Andrews, C. F. (1912). *The renaissance in India: Its missionary aspect*. London: Young People's Missionary Movement.
5. Mikecin, I. (2024). The Essence of Language and the Philosophical Foundation of Grammar among the Greeks. Synthesis Philosophica, 39(1), 183–210. https://doi.org/10.21464/sp39110
6. Della Mirandola, G. P. (1996). *Oration on the Dignity of Man*. Regnery Publishing.
7. Herrera, F. M. (2019). Schopenhauer and Schelling's philosophical inquiries into the essence of human freedom. Anales del Seminario de Historia de la Filosofía, 36(1), 147–174. https://doi.org/10.5209/ASHF.63366
8. Parpiyev, M. T. (2025). The philosophical essence of humanism in the Renaissance. Pubmedia Social Sciences and Humanities, 2(3), 1–7. https://doi.org/10.47134/pssh.v2i3.357
9. Nevelska-Hordieieva, O. (2022). Playing essence of human thinking: Philosophical and cultural aspects. Revista de Filosofía (Venezuela), 39(100), 183–194. https://doi.org/10.5281/zenodo.5979900

10. Gilabert, P. (2011). Humanist and political perspectives on human rights. Political Theory, 39(4), 439–467. https://doi.org/10.1177/0090591711408246
11. Puri, L. (2025, September 14). Why India's democratic renaissance matters. The Indian Express. https://indianexpress.com/article/opinion/columns/why-indias-democratic-renaissance-matters-9478214/
12. Nehru, J. (2004). *The discovery of India*. New Delhi: Penguin Books India. (Original work published 1946)
13. Mashelkar, R. A. (2021, January 15). Scientific Temper and Human Survival. Retrieved from https://mashelkar.com/articles/scientific-temper-sparking-off-an-indian-renaissance/#
14. Giftex. (2025). Renaissance art: Impact on Indian artists / The Renaissance Reimagined in India. Giftex Blog. Retrieved August 29, [2025], from https://www.giftex.in/exhibition/the-renaissance-reimagined-in-india/
15. Inam, A. (2024, December). Fostering critical thinking in Indian students through interdisciplinary STEAM pedagogies. Retrieved October 12, 2025, from https://www.researchgate.net/publication/387428634_Fostering_Critical_Thinking_in_Indian _Students_Through_ Interdisciplinary_ STEAM_Pedagogies

डॉ. सायमा इकबाल
एसोसिएट प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग
शहीद भगत सिंह महाविद्यालय,
दिल्ली विश्वविद्यालय
डॉ. राजकुमार राजन
एसोसिएट प्रोफेसर, हिंदी विभाग
शहीद भगत सिंह महाविद्यालय,
दिल्ली विश्वविद्यालय

लोक साहित्य में गीतों के विविध रूप

— प्रो. राम किशोर यादव

शोध सार

भारत एक ऐसा देश है जहाँ गीतों के विविध रूप देखने को मिलते हैं। इन गीतों में भारतीय समाज में विद्यमान सभी समस्याएँ भी चित्रित हैं। इन गीतों में भारत की सांस्कृतिक वैशिष्ट्य को देखा जा सकता है। इन गीतों की अपनी महत्ता है। विभिन्न प्रान्त की प्रान्तीय भाषा और लोक के अनुरूप इनका सृजन हुआ है। ये हमारी संस्कृति के अद्‌भुत रूप हैं जिसमें हम पूरी तरह से तन्मय हो जाते हैं। इन सभी बिन्दुओं को साहित्यिक परिप्रेक्ष्य में देखने की आवश्यकता है। देश के विभिन्न भागों में अनेक प्रकार के साहित्य मिलते हैं। उनमें लोक के अनुरूप गायन, लोक के अनुरूप भाषा और लोक के अनुरूप ही पहनावे देखने को मिलते हैं। भारतीय संस्कृति में मौजूद सभी रूपों की झलक मिलती है। हमें इन्हें बचाकर रखने की आवश्यकता है। अपने समय, स्थान और विविध घटनाएँ इसके केन्द्र में है। इनमें पात्रों की महत्वपूर्ण भूमिका है। चरित्रों का वर्णन इन्हीं घटनाओं को केन्द्र में रखकर किया जाता है। भारत के सभी प्रान्तों में लोक गीत गाये जाते हैं। उनका सामाजिक स्वरूप अलग-अलग होता है।

भारतीय परम्परा पर दृष्टि केन्द्रित करने पर हम पाते हैं कि इसमें साहित्य के कई रूप विद्यमान हैं। वे अपनी परिस्थिति और क्षमता के अनुरूप ही विकसित हुए हैं। अपनी पहचान को बचाकर रखने के लिए प्रतिबद्ध है। लोक साहित्य में लोकनाट्य, लोककथाएँ सभी कुछ विद्यमान हैं। इनके विविध रूप मिलते हैं। वे अपनी प्रान्तीय विशिष्टता को बचाये हुए हैं। इनमें नृत्य, गीत और अभिनय की त्रिवेणी हैं। इसमें आंतरिक एकात्मकता है। देश के अलग-अलग राज्यों में मनोरंजन के रूप में गाये जाते हैं। कहीं-कहीं वर्गीय संरचना को भी रेखांकित करते हैं। इन गीतों से जनता का सीधे लगाव होता है। इस प्रकार लोककला को बचाकर रखने का सार्थक प्रयास है।

भारतीय सांस्कृति के मूल्य में परम्पराओं, गीतों एवं त्योहारों का अपना विशिष्ट स्थान है। यही कारण है कि संस्कृत नाट्य परम्पराओं की अधिकांश विशेषताएँ इसमें समाहित हैं। इन सभी का समाज पर व्यापक प्रभाव पड़ता है। अधिकांश दर्शक अपने परिवेश में परिचित होते हैं। इनमें अलग तरह का लगाव और आकर्षण मिलता है। पात्रों के गुणों के आधार पर वे प्रतिभूत होते हैं। इसमें अगर कोई सज्जन पात्र पराजित होता दिखाया जाता है तो दुखी होते हैं अगर कोई दुर्जन पात्र पराजित होता है तो ताली बजाते हैं। इसमें दर्शकों की भावनाएँ देखने योग्य होती हैं। इसमें नाटकीयता है।, इसमें संवेदनशीलता एवं संवेदनीयता का उत्कृष्ट रूप विद्यमान है। इसमें परम्परा और आधुनिकता का संगम देखने को मिलता है।

लोक साहित्य में सामाजिक ताने-बाने को ध्यान में रखा जाता है। इसमें सामाजिक एवं आर्थिक स्थितियों से विषय ग्रहण किये जाते हैं। इसमें सहृदयता एवं सहजता के दर्शन होते हैं। इसमें सहज प्रवाह मिलता है। इनमें जनजीवन निरन्तर सजीवता को प्राप्त करता जाता है। पात्रों का चयन, उनकी वेशभूषा सभी कुछ लोक के अनुरूप रखी जाती है। अभिनेता अपने अभिनय के द्वारा जनता को प्रभावित करता है। अभिनय भी लोक में प्रचलित परम्परा के अनुरूप ही होता है। सम्पूर्ण लोक साहित्य में गीतों का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। विभिन्न प्रान्तों की प्रान्तीयता, सामाजिक स्थिति एवं लोक के वैशिष्ट्य को बरकरार रखते हुए गीतों का सृजन हुआ है। यह बहुत ही मार्मिक है। भारतीय संस्कृति, विरासत और समाज में विद्यमान सभी स्थितियों का चित्रण करने में समर्थ हैं। इसमें अपार सम्भावनाएं हैं। भविष्य में इन गीतों

का मूल्यांकन करना नई पीढ़ी के लिए चुनौतीपूर्ण होगा।

भारत एक ऐसा देश है जहाँ गीतों के विविध रूप देखने को मिलते हैं। इन गीतों में भारतीय समाज में विद्यमान सभी समस्याएँ भी चित्रित हैं। इन गीतों में भारत की सांस्कृतिक वैशिष्ट्य को देखा जा सकता है। इन गीतों की अपनी महत्ता है। विभिन्न प्रान्त की प्रान्तीय भाषा और लोक के अनुरूप इनका सृजन हुआ है। ये हमारी संस्कृति के अद्भुत रूप हैं जिसमें हम पूरी तरह से तन्मय हो जाते हैं। इन सभी बिन्दुओं को साहित्यिक परिप्रेक्ष्य में देखने की आवश्यकता है। देश के विभिन्न भागों में अनेक प्रकार के साहित्य मिलते हैं। उनमें लोक के अनुरूप गायन, लोक के अनुरूप भाषा और लोक के अनुरूप ही पहनावे देखने को मिलते हैं। भारतीय संस्कृति में मौजूद सभी रूपों की झलक मिलती है। हमें इन्हें बचाकर रखने की आवश्यकता है। अपने समय, स्थान और विविध घटनाएँ इसके केन्द्र में है। इनमें पात्रों की महत्वपूर्ण भूमिका है। चरित्रों का वर्णन इन्हीं घटनाओं को केन्द्र में रखकर किया जाता है। भारत के सभी प्रान्तों में लोक गीत गाये जाते हैं। उनका सामाजिक स्वरूप अलग-अलग होता है।

भारतीय परम्परा पर दृष्टि केन्द्रित करने पर हम पाते हैं कि इसमें साहित्य के कई रूप विद्यमान हैं। वे अपनी परिस्थिति और क्षमता के अनुरूप ही विकसित हुए हैं। अपनी पहचान को बचाकर रखने के लिए प्रतिबद्ध है। लोक साहित्य में लोकनाट्य, लोककथाएँ सभी कुछ विद्यमान हैं। इनके विविध रूप मिलते हैं। वे अपनी प्रान्तीय विशिष्टता को बचाये हुए हैं। इनमें नृत्य, गीत और अभिनय की त्रिवेणी हैं। इसमें आंतरिक एकात्मकता है। देश के अलग-अलग राज्यों में मनोरंजन के रूप में गाये जाते हैं। कहीं-कहीं वर्गीय संरचना को भी रेखांकित करते हैं। इन गीतों से जनता का सीधे लगाव होता है। इस प्रकार लोककला को बचाकर रखने का सार्थक प्रयास है।

भारतीय सांस्कृति के मूल्य में परम्पराओं, गीतों एवं त्योहारों का अपना विशिष्ट स्थान है। यही कारण है कि संस्कृत नाट्य परम्पराओं की अधिकांश विशेषताएँ इसमें समाहित हैं। इन सभी का समाज पर व्यापक प्रभाव पड़ता है। अधिकांश दर्शक अपने परिवेश में परिचित होते हैं। इनमें अलग तरह का लगाव और आकर्षण मिलता है। पात्रों के गुणों के आधार पर वे प्रतिभूत होते हैं। इसमें अगर कोई सज्जन पात्र पराजित होता दिखाया जाता है तो दुखी होते हैं अगर कोई दुर्जन पात्र पराजित होता है तो ताली बजाते हैं। इसमें दर्शकों की भावनाएँ देखने योग्य होती हैं। इसमें नाटकीयता है।, इसमें संवेदनशीलता एवं संवेदनीयता का उत्कृष्ट रूप विद्यमान है। इसमें परम्परा और आधुनिकता का संगम देखने को मिलता है।

लोक साहित्य में सामाजिक ताने-बाने को ध्यान में रखा जाता है। इसमें सामाजिक एवं आर्थिक स्थितियों से विषय ग्रहण किये जाते हैं। इसमें सहृदयता एवं सहजता के दर्शन होते हैं। इसमें सहज प्रवाह मिलता है। इनमें जनजीवन निरन्तर सजीवता को प्राप्त करता जाता है।

लोकनाट्यों में पात्रों के माध्यम से संदेश को संप्रेषित किया जाता है। किसी भी प्रकार की सामाजिक बुराई का चित्रण करते समय सामाजिक स्थिति को ध्यान में रखा जाता है। इसमें प्रस्तुति एक चिरपरिचित अंदाज में होती है। आदर्श पति-पत्नी, दुर्गुणी व्यक्ति, परस्त्रीगामी पुरुष की कथा, परपुरुष स्त्रियों, सदाचारी साधु, त्रिया चरित्र, देवर-भाभी के रिश्तों पर आधारित, ननद-भौजाई के झगड़े से संबंधित, सौतिया डाह, जीजा-साली के मधुर प्रेम प्रसंगों का स्वागपूर्ण तरीके से कथानक की प्रस्तुति की जाती है।

पात्रों का चयन, उनकी वेशभूषा सभी कुछ लोक के अनुरूप रखी जाती है। अभिनेता अपने अभिनय के द्वारा जनता को प्रभावित करता है। अभिनय भी लोक में प्रचलित परम्परा के अनुरूप ही होता है। कथा का विस्तार गायन से, कला के माध्यम से विविध प्रकार के करतब को दिखाते हुए किया जाता है। वे अपनी कला में निपुण एवं प्रवीण होते हैं। कलाकार अनुभवी होते हैं। उनके अनुभव के अनुरूप ही सजीवता आती है। वे अपनी तरफ से कुछ जोड़ते चलते हैं। इनमें भावनाओं का प्रदर्शन स्वाभाविक रूप में होता है। संवाद रोचक एवं प्रभावी होते हैं। अभिनय में आंगिक, वाचिक, अहार्य एवं सात्विक रूपों का ध्यान रखा जाता है। उनके हर्ष, उत्साह, करुणा आदि को सशक्त रूप से प्रस्तुत किया जाता है।

सरयु प्रसाद मिश्र का नारद मोह रामलीला से प्रभाविता रासलीला उत्तर भारत का महत्वपूर्ण मंचन है। इसमें राम के चरित्र गुणगान किया जाता है। उनके जन्म से लेकर लंका में जाकर रावण को मारने तक का जीवन्त विवरण मिलता है। विजयदशमी को राम रावण को मारकर विजय प्राप्त करते हैं। लोक साहित्य में राम से संबंधित कई गीत मिलते हैं। रामलीला का मंचन भारत के सभी

प्रदेशों में भिन्न-भिन्न रूप में मिलता है। भारत के प्राचीन समय से ही प्रचलित यह लोगों की आस्था से जुड़ा है। इसमें राम के चरित्र के उज्ज्वल पक्ष पर प्रकाश डाला गया है। राम शील, शक्ति ओर सौंदर्य के प्रतीक हैं। भारत में यह लोक परम्परा विद्यमान है।

रामलीला जीवन से संबंधित घटनाओं का पुंज है। राम के चरित्र का नाटकीय रूप में चित्रण किया जाता है। वे आदर्श पति, आदर्श राजा और आदर्श पुत्र हैं। कई ग्रन्थों में राम के चरित्र का बखान किया जाता है। गाँव-गाँव में लोग दो वर्गों में बंटकर पाठक और श्रोता के रूप में पाठ करते हैं। एक दल पाठ करता है दूसरा दल उसकी व्याख्या करता है। राम, लक्ष्मण और सीता के वन में जाने का प्रसंग बेहद प्रिय है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार, ''एक सुन्दर राजकुमार छोटे भाई और स्त्री को लेकर घर से निकलने वाले और वन-वन फिरने से अधिक मर्मस्पर्शी दृश्य और क्या हो सकता है? इस दृश्य का गोस्वामी जी के मानस कविता और गीतावली गीतों में अत्यन्त सहृदयता के साथ वर्णन किया है।''[1]

रामलीला में स्त्री के हृदय की आक्रंदन को सुनने का प्रयास किया गया है। यह हृदय को स्पर्श करनेवाला, उनकी प्रीति, दया और आत्मत्काता को सबसे अधिक उभारने वाला है। गाँव की स्त्रियां राम-जानकी के अनुरूप सौन्दर्य पर मोहित हो जाती हैं। वे कैकेयी को भला-बुरा कहती हैं। इसका एक रूप दृष्टव्य है—

''सीता लखन सहित रघुराई,
गाँव निकट जब निकसे जाई।
सुनि सब बाल वृद्ध नर नारी,
चलहि तुरत गृह का बिसारी।
राम लखन समरूप निहारी।
पाई नयन फल होहि सुखारी।
सजन विलोचन पुलक सरीरा,
सब चल मगन दोऽ वीरा।''[2]

राम, लक्ष्मण और सीता जिस मार्ग से गुजरते हैं सभी ग्रामीण लोग देखकर खुशी मनाते हैं। अपने क्षेत्रीय बोली में गीत गाते हैं। भाई जब चित्रकूट में आकर राम से मिलते है।। शुक्ल जी के शब्दों में ''चित्रकूट में राम और भरत का जो मिलन हुआ है वह शील और शील का, स्नेह और स्नेह का, नीति और नीति का मिलन है।''[3]

राम जब वनवास जाते हैं तो उसकी स्थिति को लेकर कौशल्या चिंतित होती है। लोक साहित्य में इसकी अभिव्यक्ति गीत के रूप में हुई है। उदाहरणस्वरूप—

वृदावन गइली ए रामजी,
कौशल्या नमन ढारे ए रामजी।
काचे रे उमरिया ए राम जी,
वनवासी बबुआ भइल ए राम जी।
सीता सुकुमारी ए राम जी,
जनक जी के प्यारी ए राम जी।
कइसे वन में रहिहन ए राम जी,
त काही खाही पिहन ए राम जी।
अरे महल के राजा ए राम जी,
भिखारी बनी गइलन ए राम जी।
अरे कइसन मतिया ...... ए राम जी,
महलिया सुना कइले ए राम जी।
कैकइया मुसकी मारे ए राम जी,
मंथरावा माये गावे ए राम जी।
दसरथ भुइयाँ गिरलन ए राम जी,
सनेहिया राम से छुटल ए राम जी।
राम राम पुकारे ए राम जी,
छाती में मुक्का मारे ए राम जी।
वृदावन गइली ए राम जी,
कौशल्या नचना ढारे ए राम जी।

लोक साहित्य में लोकगीतों का भंडार है। विभिन्न अवसरों, सामाजिक कार्यों, मांगलिक अवसरों, मनोरंजन आदि के अवसर पर गाये जाने वाले गीत बहुत ही महत्वपूर्ण हैं। इस 'शोध लेख' में भोजपुरी भाषा में प्रचलित गीतों को उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत किया गया है। डॉ. ग्रियर्सन ने 1884 ई. में 'सम बिहारी फोक सांग्स' नामक लेख प्रकाशित किया, जिसमें बिहारी भाषा के विभिन्न प्रकार के लोकगीतों का संग्रह है। इसके दो वर्ष पश्चात् 1886 ई. में डॉ. ग्रियर्सन का 'सम भोजपुरी फोक सांग्स' नामक वृहद तथा विद्वतापूर्ण लेख प्रकाशित हुआ, जिसमें भोजपुरी के बिरहा, जतसार, सोहर आदि गीतों का संकलन प्रस्तुत किया गया है।''[4] डॉ. ग्रियर्सन के अलावा ह्यूग फ्रेजर, जे बीक्स, एम. जी शिरेफ, पं. रामनरेश त्रिपाठी, कृष्णदेव उपाध्याय, विधानिवास मिश्र, देवेन्द्र सत्यार्थी ने भोजपुरी लोकगीतों के संग्रह और सम्पादन में अहम् योगदान दिया है।

भोजपुरी में विविध प्रकार के गीत हैं। इनमें संस्कार संबंधी गीत, ऋतु संबंधी गीत, व्रत संबंधी गीत, जाति आधारित गीत, श्रमगीत आदि महत्वपूर्ण हैं। संस्कार संबंधी

गीतों में जन्म से लेकर मृत्यु तक का विवरण होता है। हमारे समाज में प्रचलित 16 संस्कारों का वर्णन मिलता है। संस्कार गीतों में मुख्यत: सोहर, मुंडन, जनेऊ, विवाह, गबना आदि के गीत आते हैं। लड़के के जन्म पर सोहर गाया जाता है, लड़की को पराये घर की अमानत मानने के कारण सोहर नहीं गाया जाता है। यह समाज में बेटी बेटा में अन्तर को दर्शाता है।

पुत्र के जन्म पर खुशी जाहिर की जाती है। गाँव की महिलाएं एकत्रित होकर मंगल गान करती हैं। इसी मंगल गान को 'सोहर' कहा जाता है। सोहर का अधिकांश हिन्दू पौराणिक देवता विष्णु के अवतार कृष्ण और राम को समर्पित है। सोहर गीतों का एक रूप द्रष्टव्य है—

'कहवा में बबुआ जनमले,
त कहवा में शोर भइले हो
हो ललना कहवा में बाजे ले बधाई
महलिया उठे सोहर हो।
मथुरा में बबुआ जनमले,
त गोकुल में सोर भइले हो
ललना नन्द घरे बाजे ला बधाव,
महलिया उठे सोहर हो।''

पुत्र के जन्म के अवसर पर गरीब से गरीब व्यक्ति के यहाँ भी दान देने का वर्णन मिलता है। भले ही किसान के पास दान देने के लिए उपयुक्त साधन व संपत्ति न हो परन्तु बार-बार गाने में दान का वर्णन मिलता है। जैसे—

''कोई लुटावेला अनधन, कोई कंगनवा न हो
ललना कोई लुटावे गलेहार,
ललनवा बड़ा सुंदर हो।
बाबा लुटावेला अन धन सोनवा,
भाभी कंगनवा न हो
ललना यशोदा लुटावे गलेहार,
ललनवा बड़ा सुंदर हो।''

पुत्र पैदा होने पर स्त्री की इज्जत बढ़ जाती है। पूरे परिवार के लोग उसका सम्मान करते हैं। अच्छी तरह देखभाल, खान-पान की व्यवस्था करते हैं। सास तो फुले ही नहीं समाती है। वह बहु से प्रेमभरी बात करती है। उसका एक रूप द्रष्टव्य है—

'मचिया बइठल सासु बहु से अरज करे हो
बबुआ कवन-कवन फलवा खइलू ललनवा बड़ी सुंदर हो।'

बहु का उत्तर देखिए—

'एक फल खइली इमिलिया,
त अमवां खटहवां न हो
सासु फोर-फोर खइली नरियलवा
ललनवा बड़ी सुंदर हो।'

बच्चे के जन्म के बाद मुंडन किया जाता है तो मुंडन का गीत गाया जाता है। यह कार्य तीर्थस्थान पर देवी-देवताओं के समझ किया जाता है। इन गानों में देवी से मनोती मांगी जाती है कि बच्चे की उम्र लम्बी हो।

यज्ञोपवीत संस्कार ब्राह्मणों से जुड़ा एक महत्वपूर्ण संस्कार है। क्षत्रिय और वैश्यों में भी यह संस्कार मनाया जाता है। आज भी यह मुख्य रूप से उच्च वर्ग से जुड़ा एक संस्कार है।

विवाह के गीत विवाह के अवसर पर गाये जाते हैं। ये कई प्रकार के होते हैं। लग्न से लेकर बहु की बिदाई कराकर लाने तक का इसमें विवरण मिलता है। इसमें अपने पितरों को एवं देवताओं को भी आमंत्रित किया जा सकता है। इसे मंगल गीत भी कहा जाता है। लोकगीत विवाह के अवसर पर गायी जानेवाली गारी (गाली) है। जब बारात लेकर कन्या पक्ष के घर जाते हैं तो कन्या पक्ष की महिलाएं वर पक्ष को गाली देती हैं। यह आकर्षक और मनमोहक होता है। कोई भी व्यक्ति इसे बुरा नहीं मानता क्योंकि यह शुभ माना जाता है। उदाहरणस्वरूप—

'इहे हवन राम के दुई गो बहिनियां हो
दुनू के बड़का जोबनवा हाय सिया राम के भजो।'

भोजन करते हुए बारातियों को तरह-तरह से गाली दी जाती है—

'इहे फलाना राम के बिगड़ल बहिनियां हो
घुमेली हथुआ बजरिया हाय सिया राम के भजो।'

विवाह में वर के बड़े भाई द्वारा आभूषण चढ़ाने का वर्णन मिलता है। इस अवसर पर भसुर को गाली दी जाती है—

''टिकवा ले अइल भसुर डिबिया में मून के,
खोलि के देखाव न त गारी देवो चून के।''

भारत गांवों का देश है। गांव में ग्रामीण संस्कृति के अनेक रूप देखने को मिलते हैं। ग्रामीण जीवन की हर गतिविधियों पर रचनाकारों ने अपनी रचनाओं में इसकी सम्पूर्ण स्थिति का चित्रण किया है। डॉ. जितेन्द्र यादव ने लिखा है, ''गंगा के मैदान में बसा भोजपुरी प्रदेश प्रकृति के थपेड़ों को झेलते हुए राग-रंग के लिए अवसर निकाल लेता है। यह प्रकृति के साथ चलने वाला समाज है।

भोजपुरी में प्रत्येक मौसमों के लिए अलग-अलग गाने निर्धारित किये गये हैं।''[5]

विवाह के बाद पति पर कमाने का दबाव बढ़ जाता है। इसका संपूर्ण चित्रण भिखारी ठाकुर ने 'बिदेसिया' में किया है। प्यारी सुंदरी के विलाप का उत्कृष्ट चित्रण द्रष्टव्य है—

'पिय मोर गइलन परदेस ए बटोही भइया।
रात नाहीं नींद दिन तनी चएनवां ए बटोही भइया।
सहतानी बहुते कलेस ए बटोही भइया।
रोवत रोवत हम मइली पगलिनियां ए बटोही भइया।
एको न भेजवलन सनेस ए बटोही भइया।
नाहक जवानी हमके दिहलन विधाता ए बटोही भइया।
कुछ दिन में पाक जइहे केस ए बटोही भइया।
कहत भिखारी तोहरा गोड़ के लउडिया ए बटोही भइया।
करऽ पिया के कसहूं उदेस ए बटोही भइया।

नायिका बटोही के माध्यम से पति के पास संदेश भेज रही है। इस गीत में प्राकृतिक परिवर्तन को दिखाया गया है। एक नौकरिहा की विरहिणी स्त्री का संदेश का एक रूप प्रस्तुत है—

''अमवा मोझर गैले महुआ टपक गैले।
केकरा से पठावो सनेसवा।
रे निरमोहिया, रे निरमोहिया, छोड़ दे नोकरिया।।1।।
मोरा पिछअरवा भिखम कयथवा लिख देहु एक चिठीवा,
रे निरमोहिया, रे निरमोहिया, छोड़ दे नोकरिया।।2।।
केथि के मैं करबो रे कोरा रे कगजवा,
केथि के करबो मशनीआ,
रे निरमोहिया, रे निरमोहिया, छोड़ दे नोकरिया।।3।।
आंचर फार कोरा रे कगजवा, नैना काजर मशनिया,
रे निरमोहिया, रे निरमोहिया, छोड़ दे नोकरिया॥4॥''[6]

संयुक्त परिवार की पीड़ा का चित्रण लोक साहित्य में मिलता है। गोतिनयां ताना मारती है। यह एक चिट्ठी के रूप में गीत है—

''छोटकी गोतिनिया मारे तनवा के बतिया, (हो)
पतिया रोई रोई ना, लिखावे राजमतिया। पतिया रोई रोई ना...
सोस्ती श्री चिठी राउर भेजली तेमे लिखल,
सो पचे अस्सी रोपेया, भेजनी तवन मिलल,
ओतना से नाहीं कटी, भारी बा विपतियाँ।
पतिया रोई रोई ना...
छोटकी के झुला फाटल, जेठकी नाहीं,
बिटिया सेयान भइल, ओकरो लूगा एगो चाहीं,
अबके धरत बाटे कोहडा में भतिया।
पतिया रोई रोई ना...''[7]

लोक साहित्य के विविध रंग हैं। एक लोकप्रिय गीत में खाड़ी देश में कमाने गये परदेसी की पत्नी का उद्गार देखिए—

''केकरा खातिर करब भौजी,
अबकी के परब, सैयां अरब गइले ना।
सेज पर अब केकरा संग लड़ब,
सैयां अरब गइले ना।
हम नाहीं जननी जो बाड़े जउवहनना
ममी से कहिके हमरो क देती गवना।
कब ले इयाद कके हम तकिया के धरब,
सैयां अरब गइले ना।
सेज पर अब केकरा संग लड़ब,
सैयां अरब गइले ना।''[8]

भोजपुरी में किसान अपनी पत्नी को छोड़कर परदेस जाने को सोचता है। लोक गीतों में परदेस गमन के दौरान पति-पत्नी के संवाद बेहद जीवन्त हैं। उसका एक रूप द्रष्टव्य है—

''रुन-झुन खोलऽ ना केवड़िया,
हम बिदेसवा जइवो ना।
जो मोरे सइयां तुंहूँ बिदेसवा जइब ना,
तुंहूँ बिदेसवा जइब ना।
हमरा भइया के बोला दऽ, हम नइहरवा जइबो ना।
जो मोरे धनिया तुंहूँ नइहरवा जइबू ना,
नइहरवा जइबू ना।
जातना लागल बा रूपइबा, ओतना देके जइह ना।
जो मोरे सइयाँ तुंहूँ लेबऽ अब रूपइया,
तू रूपइया लेबऽ ना,
जइसन बाबा घरवा रहली, ओइसन करिके दीहऽना।
रुन-झुन खोलऽ ना केबरिया,
हम बिदेसवा जइबो ना।''[9]

लोक गीतों में बारह मासा, षड्मासा का वर्णन मिलता है। फसल के गीत, कटनी के गीत, रोपनी के गीत मिलते हैं। फागुन महीन के गीत बहुत महत्वपूर्ण होते हैं। नायिका की विरह स्थिति फागुन महीने में बढ़ जाती

है। फागुन महीने के बाद चैत महीने की व्यथा का चित्रण भी लोक गीतों में मिलता है। एक चैता गीत, जिसमें भोले बाबा, पूरबी बनिजिया के लिए भांग धथूरा लाद रहे हैं। उदाहरणस्वरूप–

''रामा शिव बाबा, चलले हो पुरुबी बनिजिया हो रामा।

लादि लिहले, भंगिया धतुरवा हो रामा।।1।।
उठ गउरा, भंगिया रगरि के पिआब हो रामा।।2।।
राम कइसे में उठि सिव महादेव हो रामा।
मोरा गोदी, गनेस बाड़े बालक हो रामा।।3।।
रामा गणपति बालक पलंग सुताव हो रामा।
इचि एक, भंगिया रगरि के पियाव हो रामा॥4॥''[10]

सम्पूर्ण लोक साहित्य में गीतों का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। विभिन्न प्रान्तों की प्रान्तीयता, सामाजिक स्थिति एवं लोक के वैशिष्ट्य को बरकरार रखते हुए गीतों का सृजन हुआ है। यह बहुत ही मार्मिक है। भारतीय संस्कृति, विरासत और समाज में विद्यमान सभी स्थितियों का चित्रण करने में समर्थ हैं। इसमें अपार सम्भावनाएं हैं। भविष्य में इन गीतों का मूल्यांकन करना नई पीढ़ी के लिए चुनौतीपूर्ण होगा।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. शुक्ल, आचार्य रामचन्द्र, त्रिवेणी, कला मंदिर, नई सड़क, दिल्ली, पृ. 71
2. वही, पृ. 71
3. वही, पृ. 72
4. उपाध्याय, कृष्णदेव, लोक साहित्य की भूमिका, साहित्य भवन प्रा. लि., संस्करण 1957, पृ. 30
5. यादव, जितेन्द्र, भिखारी ठाकुर प्रतिरोध का लोक स्वर, आरोही प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2014, पृ. 106
6. सिंह, डॉ. धनंजय, पूरबियों का लोकवृत वाया देस परदेस, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 125
7. वही, पृ. 197
8. वही, पृ. 198
9. उपाध्याय, कृष्णदेव, हिंदी प्रदेश के लोक गीत, साहित्य भवन प्रा. लि., इलाहाबाद, संस्करण 1990, पृ. 73–74
10. वही, पृ. 98

प्रो. राम किशोर यादव
श्री वेंकटेश्वर कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

नागार्जुन के उपन्यासों में संघर्षरत स्त्री

– डॉ. प्रीतिलता सिंह

सारांश :

भारत में स्त्री का महत्वपूर्ण स्थान है जिसे नाकारा नहीं जा सकता है। यही वजह है कि भारतीय साहित्य में स्त्री सर्वोच्च स्थान रखती है। स्त्री का जीवन संघर्ष भी भारतीय समाज में कम द्वंद्वात्मक नहीं रहा है। उतार-चढ़ाव के दौरों से गुजरती हुई स्त्री आज मौजूदा हालात तक पहुँच सकी है। बाबा नागार्जुन मानवीय संवेदना के शिल्पकार होने के नाते पुरुष के साथ स्त्री की साम्यता जनवादी लेखक के दिलो-दिमाग में थी। मिथिलांचल के स्त्री-चरित्रों के वर्णन के द्वारा बाबा नागार्जुन भारतीय स्त्रियों के मन के कोने में शोषित असाधारण संवेदनाओं को कभी मौन और कभी मुखर होकर हमारे सामने प्रस्तुत करते हैं। नागार्जुन के उपन्यासों में संघर्षरत महिलाएँ अधिकतर सिर्फ पीड़ित पात्र नहीं, बल्कि वे प्रतिरोध की नायिकाएं और सामाजिक परिवर्तन की प्रेरक शक्ति के रूप में उभरती हैं।

हिंदी साहित्य में वैद्यनाथ मिश्र उपनाम 'नागार्जुन' एक ऐसे प्रखर रचनाकार हैं, जिन्होंने समाज के हाशिये पर खड़ी स्त्रियों के जीवन को यथार्थ और करुणा के साथ चित्रित किया। उनके उपन्यास केवल कथा नहीं, बल्कि सामाजिक दस्तावेज हैं—जिनमें ग्रामीण-शहरी परिवेश, आर्थिक विषमता, रूढ़िवादी बंधन और स्त्री की आंतरिक चेतना का सूक्ष्म चित्रण है। 'रतिनाथ की चाची', 'कुंभीपाक', 'दुखमोचन', 'बलचनामा', 'पारो' और 'उग्रतारा' जैसी कृतियों में नारी के संघर्ष को उन्होंने केवल पीड़ित अवस्था में नहीं, बल्कि प्रतिरोध, विद्रोह और परिवर्तन के वाहक रूप में प्रस्तुत किया।

बीज शब्द :

भारतीय साहित्य, स्त्री संघर्ष, शिल्पिकार, मानवीय संवेदना, आंचलिक, चेतना, जनवादी, उपन्यास, शोषित।

प्रस्तावना :

समाज की स्थितियाँ देश के साहित्य को हमेशा से प्रभावित करती रही हैं। स्त्री की निंदा हो या प्रशंसा दोनों स्थितियों का वर्णन साहित्य में हुआ। मध्य-कालीन साहित्य में स्त्री को लेकर कवियों ने अपनी विरक्ति से अपने मन की गाँठ को अधिक प्रकट किया। रीतिकाल के समय तक स्त्री को विलासिता का मुख्य-विषय बनाकर काव्य की रचनाएँ की गयीं। डॉ. नागेन्द्र के शब्दों में, ''रीतिकाल में पुरुष को नारी विशेष की वैयक्तिक सत्ता से प्रेम नहीं था, उसके नारीत्व से ही प्रेम था।''[1] आज के समय में स्त्री-विमर्श साहित्य में या समाज में ही बहुत जोरों पर चल रहा है। स्त्री की प्रासंगिकता उसके देवी होने में या उसके सौंदर्ययुक्त होने में नहीं बल्कि उसके इंसान होने में है। पुरुष के तुल्य ही उसके भीतर भी निपुणता और निर्बलताएँ हैं। स्त्री के इस वास्तविक प्रभुत्व को सभ्यता ने अपने विकास के साथ साहित्य के केंद्र तक पहुँचाया तब से स्त्री केंद्र से फिसलते-फिसलते अपने दायरे तक पहुँच गई। कितनी महत्वपूर्ण है धूमिल की यह पंक्तियाँ—''प्राचीन काल से ही स्त्री भोग की वस्तु थी आज की इक्कीसवीं सदी में स्त्री उपभोग की वस्तु है।''[2]

नागार्जुन का लेखन काल लगभग 1930 के दशक से 1980 तक फैला हुआ है। यह वह समय था जब

- भारत आजादी की लड़ाई में सक्रिय था, ग्रामीण समाज में सामंती व्यवस्था, जाति आधारित भेदभाव और पितृसत्ता गहरी जड़ें जमाए थीं, महिलाओं की स्थिति दोहरी गुलामी जैसी थी। एक तरफ पुरुषसत्तात्मक परिवार और

समाज का बंधन और दूसरी तरफ आर्थिक व राजनीतिक दमन।

उनके उपन्यासों में जो स्त्रियाँ दिखती हैं, वे इस सामाजिक यथार्थ की प्रत्यक्ष छवि हैं— खेत-खलिहान में काम करने वाली, घरेलू हिंसा सहने वाली, फिर भी जीवन के लिए जूझती हुईं। भारत में तीव्र सामाजिक-राजनीतिक परिवर्तन का युग था। स्वतंत्रता आंदोलन, किसान विद्रोह, नक्सल आंदोलन, भूमि सुधार जैसे सामाजिक आंदोलनों ने ग्रामीण जीवन को प्रभावित किया। यद्यपि यह समय स्वतंत्रता और लोकतांत्रिक अधिकारों की आकांक्षा से भरा था, किन्तु ग्रामीण स्त्री के लिए परिस्थितियों में कोई क्रांतिकारी सुधार नहीं हुआ। उनकी स्थिति ''घर और खेत के दोहरे बोझ'' से बंधी रही।

नागार्जुन इसी यथार्थ के संवेदनशील साक्षी थे। उनके उपन्यासों में जो स्त्रियाँ चित्रित होती हैं, वे महज करुणा या दया की पात्र नहीं हैं, बल्कि कठिन परिस्थितियों में जीते हुए भी जीवन के लिए संघर्षरत हैं। यह संघर्ष केवल भौतिक जीवन-यापन का नहीं, बल्कि आत्मसम्मान और अधिकार प्राप्ति का है।

आज के समय से स्त्री को जोड़कर देखें तो स्त्री संघर्षरत ही हैं। आज 21वीं सदी में भी, भले ही शिक्षा, रोजगार और तकनीक ने महिलाओं के अवसर बढ़ाए हों, लेकिन संघर्ष पूरी तरह खत्म नहीं हुआ।

* ग्रामीण भारत में आज भी जमीन के अधिकार, घरेलू हिंसा, बाल विवाह और मजदूरी में असमानता जैसी समस्याएँ मौजूद हैं।
* शहरी समाज में महिलाओं को करियर, परिवार और सुरक्षा के बीच संतुलन बनाने की चुनौती झेलनी पड़ती है।
* डिजिटल युग ने नई संभावनाएँ दी हैं, लेकिन साथ ही साइबर उत्पीड़न, ऑनलाइन ट्रोलिंग जैसी नई चुनौतियाँ भी खड़ी की हैं।

नागार्जुन की स्त्रियाँ हमें यह याद दिलाती हैं कि संघर्ष का स्वरूप बदल सकता है, लेकिन उसका मूल- सम्मान, समानता, समान अवसर और आत्मनिर्णय का अधिकार आज भी उतना ही प्रासंगिक है।

नागार्जुन का साहित्य उनकी अपनी जीवन-यात्रा से गहरे रूप में जुड़ा है। गरीबी, निर्वासन, राजनीतिक सक्रियता और किसान-श्रमिक आंदोलनों से जुड़ाव ने उन्हें आमजन की संवेदनाओं का प्रतिनिधि बनाया।

हिंदी उपन्यास साहित्य में नागार्जुन महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। बाबा नागार्जुन मार्क्सवादी लेखकों में ऐसे लेखक हैं जो अपनी रचनाओं की पृष्ठभूमि सीधे अपने मिथिलांचल के ग्राम्य-जीवन, सामाजिक समस्याओं, राजनीतिक आन्दोलनों एवं सांस्कृतिक जीवन की अभिव्यक्ति से लिया है और उन्हें रसयुक्त-संवेदनपूर्ण बनाये हैं। इन्होंने जहाँ स्त्री के समूचे व्यक्तित्व को खोलकर हमारे सामने रखा है वहीं पर स्त्री-समस्या को अलग से नहीं बल्कि स्त्री-पुरुष दोनों को एक ही दृष्टिकोण से देखा है तथा अपने उपन्यासों के द्वारा स्त्री की वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक पृष्ठभूमि पर प्रकाश डालने का सफल प्रयास किया है। समाज की स्थितियाँ देश के साहित्य को हमेशा से प्रभावित करता रहा है। स्त्री की मनोदशा को नया आधार देने वाले उनके उपन्यास स्त्री के प्रति लोगों की परम्परा जो पहले से चली आ रही है उन रुढ़ियों को बदलने की मांग करते हैं। इनके उपन्यासों में चित्रित स्त्रियों की परिस्थितियाँ एवं स्त्री चरित्र इतना निर्णायक है कि लगता है हमें उस जीवन के समक्ष खड़ा कर दिया गया हो; चाहे वो उपन्यास 'रतिनाथ की चाची', 'बलचनमा', 'नई पौध', 'बाबा बटेसर नाथ', 'वरुण के बेटे', 'दुखमोचन', 'कुम्भीपाक', 'उग्रतारा', 'इमरतिया', 'पारो' आदि।

बाबा नागार्जुन के उपन्यासों में ग्राम्य जीवन की प्रमुखता है। ग्रामीण परिवेश में जीवनयापन करने वाली स्त्रियों की स्थितियों, परिस्थितियों को अपने साहित्य में उजागर करते हुए अपनी पैनी नजर रखते हैं। बाबा नागार्जुन के स्त्री चरित्रों का ऊपरी ढाँचा भले ही शोषित स्त्री का हो लेकिन उनके भीतर विद्रोहिणी चमक साफ तौर पर देखी जा सकती है। इसी वजह से बाबा नागार्जुन के उपन्यासों की नायिकाएँ सामाजिक व्यवस्थाओं पर अपना आवाज बुलंद करती हुईं सामाजिक पद्धति के सामने अपने सवालों को लेकर खड़ी होती हैं। इनकी नायिकाएँ हैं—गौरी, माधुरी, बिसेसरी, चम्पा, भुवन, इमरतीय, पारो आदि।

बाबा नागार्जुन का पहला हिन्दी उपन्यास है 'रतिनाथ की चाची' जो 1948 में प्रकाशित हुआ। इस उपन्यास में अनमेल विवाह, विधवा समस्या, जातिप्रथा आदि समस्याओं का यथार्थपूर्ण चित्रण हुआ है। स्त्री के वैदेही समस्याओं को इसमें दिखाया गया है। इस उपन्यास की नायिका है 'गौरी'। गौरी के व्यक्तित्व के दो पक्ष इस तरह से दिखाई पड़ते हैं। पहले पक्ष में गौरी का विवाह उसकी आयु से

बड़े दमा रोगी आलसी बैद्यनाथ से हो जाता है। अधेड़ रोगी पति के देहावसान के कारण विधवा हो जाती है व उनके पुत्र उमानाथ का भार असमय ही गौरी के ऊपर आ जाता है। जिसके बाद गौरी की दशा चुनौती पूर्ण हो जाती है। विधवा गौरी विधुर देवर जयनाथ तथा उसके पुत्र रतिनाथ के साथ अपने जीवन का निर्वाह करती है। लेखक इस उपन्यास में यह दिखाने की कोशिश करते हैं कि हमारे समाज में स्त्री के ऊपर इतना दबाव दिया जाता है कि अपनी गरिमापूर्ण अहंभाव को लगातार शोषित एवं कलुषित किया जाता है फलत: बलि चढ़ा दी जाती है। वैसे तो माँ बनाने का सामर्थ्य स्त्री के लिए एक शक्ति है लेकिन पितृसत्तात्मक समाज इसे स्त्री की कमजोरी मानने को विवश करता है। यही कारण है कि आलसी देवर जयनाथ अपनी कामवासना में अंधा होकर अपनी विधवा भाभी गौरी को अपने दुष्कर्म का शिकार बनाता है। गौरी गर्भवती हो जाती है। गौरी दुष्कर्मी जयनाथ से इस समस्या का हल पूछती है। जयनाथ ये दुष्कर्म छिपकर तो कर सकता है लेकिन समाज के सामने इस जिम्मेदारी को लेने की हिम्मत नहीं जुटा पाता। अंतत: गौरी को चरित्रहीन बताकर गाँव वाले तिरस्कार कर समाज से बाहर कर देते हैं। तिरस्कृत होकर गौरी अपने माँ के घर चली जाती है। गौरी की माँ ही गौरी को इस समस्या से निकालती हैं। उसके बाद गौरी अपने ससुराल पुन: वापस लौट आती है और घुट-घुट कर जीती है।

जबकि दूसरा पक्ष गौरी का ठीक उलट है। अपने इस दूसरे पक्ष में गौरी एक जागरूक स्त्री के रूप में दिखाई पड़ती है। जब गाँव में मलेरिया फैलता है तब गौरी मुफ्त की दवा बाँटती है, जमींदारों के विरोध में संघर्ष करने वाली क्रांतिकारी किसान सभा संगठन में अपना दो साल पुराना फटा कंबल देकर किसान की सहायता करती है तथा अखिल भारतीय सूत प्रतियोगिता में गौरी प्रथम आती है। यह जागरूक गौरी अपने ही सगे बेटे से मिलने वाले अपमान की घूट पी कर अपने भतीजे रतिनाथ पर अपना लाड़-प्यार न्योछावर करती है। इस प्रकार नागार्जुन ने गौरी के रूप में स्त्री के अस्तित्व को सामाजिक प्रश्न के रूप में सामने रखते हुए स्वयं ही उसका उत्तर दिया है कि एक भारतीय स्त्री अपने अस्तित्व को अलग-अलग रूपों में बाँट कर भी संघर्षरत रहती है।

बाबा नागार्जुन ने इस उपन्यास में स्त्री को इन विडम्बनाओं से विमुक्त नहीं करा पाते लेकिन भारतीय मिथिला समाज में या कमोवेश ग्रामीण भारतीय परिवेश में स्त्री की दुर्गति का चित्रण इस प्रकार से कर जाते हैं कि हम सोचने के लिए मजबूर हो जाते हैं। इस उपन्यास की गौरी विधवा है और देवर के शोषण का शिकार होती है। समाज का दृष्टिकोण इतना कठोर है कि दोष उसी पर मढ़ दिया जाता है। गौरी की त्रासदी यह है कि वह सिर्फ पुरुष-प्रधान मानसिकता से नहीं, बल्कि स्त्रियों के ही एक हिस्से से विरोध का सामना करती है—दमयंती बुआ जैसी महिलाएँ भी उसके पक्ष में नहीं हैं। नागार्जुन यहाँ दिखाते हैं कि स्त्री-संघर्ष का रास्ता दोगुना कठिन है-उसे बाहरी शोषण और आंतरिक रूढ़िवाद, दोनों से लड़ना पड़ता है।

बाबा नागार्जुन का दूसरा उपन्यास 'बलचनमा' जो 1952 में प्रकाशित हुआ। इसमें बलचनमा नामक पात्र का ऐसा जीवनचरित है जिसे अपने ही पिता के कातिल के यहाँ नौकरी ही नहीं करनी पड़ती बल्कि उनके जोर-जुल्म और अत्याचारों को भी सहन करना पड़ता है। यह उपन्यास उपेक्षित श्रमिक वर्ग के शोषित होते रहने की कहानी को आगे लेकर बढ़ता है। इस उपन्यास में लेखक ने दलित, शूद्र एवं निम्न वर्ग के साथ ही इनकी स्त्रियों के जीवन का कोई भी मोल इन उच्चवर्गीय लोगों के नजर में नहीं है। लेकिन विद्रोह की ज्वाला इन दबाये सताए लोगों के अन्दर है। बलचनमा की बहन 'रेबनी' पर मझले मालिक की बुरी नजर तथा अपनी पिटाई पर बलचनमा की माँ कहती है—''बबुआ बालचन! मर जाना लाख गुना अच्छा है, मगर इज्जत का सौदा करना अच्छा नहीं।''[3] माँ की सोच को समझकर बलचनमा निश्चय करता है कि चाहे बर्बाद हो जाना पड़े, चाहे जहल-दामुल हो, चाहे फांसी चढ़ूँ मगर कभी जालिम के सामने झुकूँगा नहीं। बलचनमा की माँ पतिहीन स्त्री होने के नाते अनेक बाधाओं की हमेशा ही शिकार बनती रही, लेकिन अपने बेटे बलचनमा के भीतर विद्रोह की ज्वाला जगाती रही।

बाबा नागार्जुन ने सामाजिक असमानताओं के विरोध में अपने उपन्यासों एवं स्त्रियों को आत्मसम्मान के साथ स्थापित किया है। लेखक मानते हैं कि जो वर्ग या व्यक्ति दूसरों के मेहनत पर भोग विलास करते हैं वे समाज के लिए बोझ हैं। अत: वे कहते हैं—''खानदान और रामा की कमी नहीं, काज करेंगे नहीं किसी की लड़की सयानी हुई नहीं की निशाना साधने लग जाते हैं। यह नहीं कि बहन-बेटी सबकी बराबर होती हैं अपनी-अपनी इज्जत

आबरू संभालेंगे तो दूसरे का भी भला होगा। मगर भैया जिनके पास दौलत होती है वह निपट अंधे होते हैं, अपना-पराया कुछ नहीं सूझता।''[4] स्त्री के रूप रंग और हुस्न की चर्चा से परहेज करते हुए वे उनकी आजादी में बाधक व अनेक समस्याओं से हमें जागरूक कराते हैं।

'दु:खमोचन' 1957 में प्रकाशित होता है। इस उपन्यास में वर्ग विसंगति, रूढ़िवादी परंपरा, सामाजिक असमानता, आर्थिक समस्या तथा अंधविश्वासों को सामाजिक मनोज्ञान के साथ हमारे सामने प्रस्तुत करते हैं तथा इनके उपन्यासों में मानवतावादी स्वर मुखरित हैं। इस उपन्यास में लेखक दिखाते हैं कि अगर स्त्री को दीन-हीन जीवन की समस्या से बचाना है तो विधवा-विवाह अनिवार्य है। इस उपन्यास का पात्र दु:खमोचन अपने विपक्षियों की चिंता किए बिना स्थिर एवं विधुर कपिल का ब्याह सम्पन्न कराता है। विधवा माया और विधुर कपिल का ब्याह दु:खमोचन के जरिए पूर्ण कराना नागार्जुन के प्रगतिशील नजरिए का अभिसूचक है।

बाबा नागार्जुन ने किसी भी स्तर के शोषण एवं अत्याचार का विरोध किया। 'नई पौध' उपन्यास 1953 में प्रकाशित हुआ जिसमें लेखक ने बेमेल विवाह की समस्या को दिखाया है। इस उपन्यास की कथा में लेखक ने पूर्वकालीन और वर्तमान प्रतिष्ठा का संघर्ष दिखाया है। बिसेसरी नामक पात्र इस उपन्यास की मुख्य पात्र है। वैसे तो इस उपन्यास में कोई भी पात्र नायक व नायिका के रूप में नहीं उभरता लेकिन बिसेसरी नामक पात्र के इर्द-गिर्द ही पूरी कथा घूमती है अत: बिसेसरी ही नायिका के समान उभर कर सामने आती है। मिथिला के सौराठ मेले में बहुत सारे वर इकट्ठा होते हैं जहाँ पर लोग अपने-अपने आर्थिक रूप के समान वर ढूँढ़ते हैं। इस उपन्यास में खोखा पंडित नामक पात्र अपने ही नातिन बिसेसरी जो पिताविहीन गरीब घर की पुत्री है उसके लिए उसके नाना नौ सौ रुपये के लालच में उसका बेमेल विवाह करना चाहते हैं, जिस वजह से वह बेचैन हो उठती है। इन चिंताजनक विषय के कारण बिसेसरी के अंदर एक ऐसी स्त्री प्रकाशित होती है जो सामंती सोचों, रूढ़िगत परंपराओं और खोखली नैतिकताओं के नाम पर स्त्रियों को बलि चढ़ाए जाने का विरोध करती है। इस सुधबुध के कारण बिसेसरी गाँव के प्रगतिशील युवकों की सहायता से बेमेल विवाह का पूरे जोर से विरोध करती है। अन्तत: चौदह वर्षीय बिसेसरी का विवाह वाचस्पति नामक प्रगतिशील युवक से हो जाता है।

नागार्जुन के पात्र अपने पीढ़ी दर पीढ़ी के मूल्य प्रतिष्ठाओं के जीर्ण बंधनों को अपने क्रांतिकारी संकल्पों के द्वारा नई मान्यताओं के जरिए तोड़ते हुए मान्यताओं को प्रतिष्ठापीत करते हैं। 'वरुण के बेटे' 1957 ई. में प्रकाशित होता है। इस उपन्यास की मुख्य पात्र मधुरी है जो नायिका के रूप में इस उपन्यास में दिखाई पड़ती है। आज भी भारतीय समाज में स्त्री की स्थिति असहाय है। 'वरुण के बेटे' में मधुरी का व्यक्तित्व व चरित्र के दो पक्ष दिखाई देता है। पहला पक्ष मधुरी के शादी के पहले का है जिसमें वह एक प्रेमिका, अल्हड़ तरुणी के रूप में है, जिसकी गतिविधियों से यह पता चलता है कि क्या कभी मधुरी किसी भी मुसीबत का सामना कर पाएगी या फिर किसी रण को स्वरूप दे पाएगी? इसके फलस्वरूप मधुरी के जीवन का दूसरा पक्ष है जिसमें वह लोक जागरण के मिसाल की लौ बनती है। वह खुद ही पुलिसियान के पिछले छोर पर खड़ी होकर अपना दाहिना हाथ घुमा-घुमा कर नारे लगाती है और मछुआरों की प्रेरणा बनती है। इस तथ्य से यह जाहिर होता है कि कैसे एक स्त्री समय और परिस्थितियों की आवश्यकताओं के तुल्यरूप अपने को ढाल लेती हैं।

नागार्जुन के उपन्यासों के कैसे भी पात्र हों—अच्छे हों, बुरे हों वे खुद के अपनत्व के दायरे में रहते हैं। वे दया, ममता और स्नेह से परिपक्व है। लेकिन स्त्रियाँ पुरुषों के के साथ कंधे से कंधा मिलाकर समाज की सभी दुर्गुणों को मिटाना चाहती हैं। वरुण के बेटे में मधुरी मंगल को अपना प्यार भुला कर कहती है—''देखो मंगल अब हम छोकरा-छोकरी नहीं रहे। धूल मिट्टी के बचकाने खेल काफी खेल चुके। सयाने समझकर माँ बाप और सास ससुर ने तुम पर जो जिम्मेदारी सौंपी है उससे जी चुराना कायरता होगी। तुम्हें अपनी घरवाली के प्रति वफादार होना है, मुझे अपने घरवाले के प्रति। गाँव-गँवई के हम सीधे सादे लोग ठहरे। हमारा प्रेमनगर कहीं समाज से अलग या संसार के बाहर आबाद हुआ है? मैं नहीं चाहती कि एक औरत की सिंदूरी माँग में कालिख पोतती रहूँ लेकिन लेकिन ये सब बातें कहने वाली मधुरी के सामने जब समाज सुधार की बात आती है तब मंगल का साथ देती है। इस संदर्भ में मनु प्रकाश जी लिखते हैं—''नागार्जुन की स्त्रियाँ ममतामयी हैं, स्नेहमयी हैं, लेकिन वे मजबूत स्त्रियाँ हैं। प्रेम को लेकर हाय-हाय करना उन्हें नहीं भाता

बल्कि प्रेम को लेकर एक तरह की दृढ़ता उनमें जरूर है। इसलिए प्रेम और जीवन में वे कोई फर्क नहीं करतीं।''[5]

'कुंभीपाक' उपन्यास नागार्जुन का 1960 में प्रकाशित हुआ, जिसमें समाज के अंदर फैले अनाचार, भ्रष्टाचार, असामानता को लेकर यह उपन्यास लिखा गया। इस उपन्यास के प्रमुख पात्र भुवन, चम्पा, विभाकर को देखें जिनकी कहानी को लेखक ने यथार्थवादी शैली में प्रस्तुत किया है। कुंभीपाक हिन्दू धार्मिक मान्यताओं के अनुसार माने हुए नरकों में एक नरक कुंभीपाक है, जहाँ मनुष्य मरने के बाद बाद जाता है। परंतु नि:सहाय एवं विधवा माहिलाओं को जीवित पतित लोगों ने किस प्रकार कुंभीपाक में डाल रखा है उसी सत्य को इस उपन्यास में दिखाया गया है।

चम्पा कुंभीपाक उपन्यास की प्रधान नायिका है, जो इसी उपन्यास की दूसरी नायिका भुवन के समरूप है। नागार्जुन के कुंभीपाक उपन्यास में वेश्यावृत्ति के दलदल में झोंक दी जाने वाली स्त्रियों की विवशताओं को बड़ी ही सूक्ष्मता से प्रस्तुत किया गया है। कुंभीपाक में स्त्रियों को बेचने वालों (दलालों) के खिलाफ स्त्रियों के संग्राम का दास्तान है। नागार्जुन अपने उपन्यासों में स्त्रियों को बड़ी ही मजबूती से प्रस्तुत करते हैं जैसे कुंभीपाक के स्त्रीपात्रों के जरिए से बताना चाहते हैं कि जो स्त्रियाँ समाज द्वारा प्रताड़ित हैं वे समाज के ठेकेदारों के खिलाफ बगावत की चिंगारी भी लगा सकती हैं।

चम्पा एक सौन्दर्ययुक्त स्त्री है जो अपने ही जीजा की कामुकता के आग में झुलसती है जो हर प्रकार से आचारणहीन व्यक्ति है। चम्पा अपने जिंदगी की भयावहता के बारे में बताते हुए कहती है कि 'जीजा ने मुझे कुलसुम, सरदार जी ने सतवन्त कौर और शर्मा जी ने चम्पा बनाया। ऐसे ही चम्पा अपने जीवन के कुंभीपाक होने के तथ्य को एक-एक पंक्ति में बता देती है। लेकिन समय और हालातों के साथ चम्पा के आचरण में परिवर्तन होता रहता है। अनैतिकताओं के दलदल में अपना जीवनयापन करने वाली चम्पा के जिंदगी का बस एक ही ध्येय बन चुका है कि जो इस वेश्यावृत्ति के दलदल में फँसी हुई स्त्रियाँ हैं उनकी सहायता करना। भुवन चम्पा के समरूप कुंभीपाक की नायिका है जिसका असल नाम इंदिरा था और जो मुंगेर जिला के एक सम्पन्न परिवार में पैदा हुई, उसका पति पायलट था, जिसका शादी के कुछ महीने बाद ही एक हवाई दुर्घटना में मौत हो जाती है। अपने पति के देहावसान के समय भुवन चार महीने की गर्भवती रहती है। अस्पताल ले जाने के बहाने भुवन को एक रिश्तेदार आसनसोल ले जाता है तथा वहीं के एक धर्मशाला में अकेला छोड़ वहाँ से भाग जाता है। तदोपरांत भुवन का भी जीवन चम्पा के समान उसी कुंभीपाक नामक नरक में जा समाता है। कुछ समय बाद भुवन इस कुंभीपाक से मुक्त होने के लिए संघर्ष करती है अपने उज्ज्वल भविष्य के लिए तथा भुवन को सहायता मिलती है नीरू नामक युवती से, और इस कुंभीपाक से मुक्ति पाकर भुवन काशी जाती है, जहाँ से उसके सामाजिक प्रतिष्ठा का मार्ग मिलता है।

इस उपन्यास में सामाजिक यथार्थ का चित्रण करते हुए नागार्जुन स्त्री की सामाजिक स्थिति पर सोचने के लिए मजबूर करते हैं। स्त्री के कारुणिक दशा की वजह तो पुरुषवादी सोच है इस बात को मानते हुए नागार्जुन ने प्रगतिशील स्त्री चरित्रों की रूपरेखा द्वारा इस वास्तविकता की पुष्टि की जैसे ''कॉलेजों से पढ़-लिखकर लड़कियाँ निकलती हैं, पुराने समाज के जंगल में खो जाती हैं। शिक्षा, चिकित्सा आदि कई विभाग हैं जिनमें स्त्रियाँ अपनी योग्यता के प्रमाण पेश कर चुकी हैं। शासन और निर्माण के कुछ ही क्षेत्र होंगे, जिनमें स्त्रियाँ काम नहीं कर सकती। दरअसल हम ही उन्हें रोके हुए हैं।''[6]

नागार्जुन के उपन्यासों की स्त्रियाँ केवल दु:ख-विलाप करने वाली नहीं जबकि जीवन में अपने प्रेम के प्रति तत्पर रहती हैं। अपने प्रेम को पाने के लिए वो अपना आधा-अधूरा जीवन जीने के लिए आतुर रहती हैं और जब कभी ऐसा वक्त आता जहाँ पर उन्हें मजबूत फैसला लेना पड़ता तो फैसला लेने से नहीं चुकती। ऐसा ही उपन्यास 'उग्रतारा' (1960 ई.) है जिसमें यह जानते हुए कि उसके कोख में भिखम सिंह की औलाद पल रही है फिर भी अपने प्रेम के लिए बिना सोचे अपने प्रेमी के साथ भाग जाती है, यह बात करने के लिए कम हौसलों की जरूरत नहीं पड़ती। उग्रतारा, कामेश्वर और उसकी भाभी नयी चेतना के प्रतिबिंब हैं। इन तीनों के चरित्र के जरिए लेखक ने सामाजिक बदलाव की प्रोत्साहना दी है। कामेश्वर की भाभी नयी सोच की स्त्री है, इनके सहायता से ही उगनी और कामेश्वर पवित्र परिणय में बंध पाते हैं। ऐसी अवस्था में उगनी को अपनाने का हौसला कामेश्वर को उसकी भाभी से मिलता है।

उग्रतारा के उगनी एवं कामेश्वर जैसे पात्र इस बात के

साक्ष्य हैं कि व्यक्ति में निर्भीकता और आत्म निष्ठा की उमंग हो तो सदियों की कुरीतियों का प्रगतिशीलता में रुकावट नहीं बनती। इस संदर्भ में मुद्रारक्षस लिखते हैं– ''यह उपन्यास प्रेमचंद के बाद स्त्री विमर्श का एक उल्लेखनीय उदाहरण है। स्त्री को अपनी नियति के चुनाव का जो अधिकार होना चाहिए नागार्जुन इस उपन्यास में उसी का दस्तावेज पेश करते है।''[7] यह ध्यान देने की बात है कि नागार्जुन की स्त्री पात्र प्रतिबंधों को तोड़ते हुए स्त्री पुरुष समानता की हिमायती है, स्त्री अपनी कमियों के साथ, अपने अतीत को स्वीकार करते हुए भी नव्य जीवन, नए मनोज्ञान में स्वयं को आकार देती हैं और यह मानती हैं कि स्त्री–पुरुष दोनों के सहयोग से ही समाज से भिन्नताओं या असमानताओं को दूर किया जा सकता है।

नागार्जुन का 'इमरतिया' उपन्यास 1968 ई. में प्रकाशित होता है। इस उपन्यास में इसी नाम की नायिका है। वह संन्यासिनी है और जामनिया मठ में रहती है। संन्यासिनी होने पर भी उसके भीतर की स्त्री एक साधारण स्त्री जैसी है। उसकी कामेच्छा मरी नहीं है। वह अभिनय देखने की इच्छा रखती है, लेकिन मठ में बाबा के द्वारा किए जाने वाले घृणाजनक कृत्यों का खंडन करती है। मठ के जिस बाबा के प्रति उसके मन में पूज्य भाव था वह धीरे–धीरे खत्म हो जाता है। लोग इमरतिया को देवदासी और योगिनी की पदवी देते हैं। मगर मठ में होने वाले दुराचारों के खिलाफ अपने मनोज्ञान को लाने की कोशिश करती है। नागार्जुन इमरतिया के माध्यम से हमें दिखाना चाहते हैं कि क्या मठों के दुराचार में फंसी हुई स्त्रियाँ भी स्वतंत्र हो सकती हैं? इमरतिया का चरित्र–चित्रण एक नायिका के रूप में इस सवाल का जवाब देता है और निश्चिंत कराता है कि यदि स्त्री चाहे तो वह प्रत्येक दुराचारों से स्वतंत्र हो सकती हैं।

नागार्जुन का पहला मैथिली उपन्यास 'पारो' जो 1975 ई. में हिन्दी में रूपांतरित होकर सामने आया। इस उपन्यास में मिथिला के परिवेश का मापदंड बनाकर स्त्री की कारुणिक स्थिति को चित्रित किया गया है। आर्थिक कमी के चलते भारतीय समाज की स्त्रियों की कैसी दुर्गति होती है इसका भावनात्मक चित्रण इस उपन्यास में किया गया है। धनाभाव के कारण पंद्रह वर्षीय पारो पैंतालिस वर्षीय पुरुष के साथ विवाह कर दी जाती है और वो इस बेमेल विवाह में घुट–घुटकर जीती है। अपने पूरे जीवन काल में पारो इस अधेड़ पुरुष को अपने मन से स्वीकार नहीं कर पाती। यहाँ पर लेखक दिखाना चाहते हैं कि जिस समाज में लड़की को बोझ समझा जाता है वहाँ तो उस लड़की का सम्पूर्ण जीवन जहन्नुमी ही रहेगा। एक तरह से पारो एक प्रेम कथा ही है जिसका एक पक्ष सामाजिक लाचारियों में फंसा बिरजू है तो दूसरे पक्ष में सामाजिक विसंगतियों, कुरीतियों एवं रूढ़ियों में बढ़ी बेबस–लाचार पारो है। इसके बाद भी इन दोनों के मन में अटूट प्रेम है। एक दूसरे के निश्छल प्रेम को जीते हैं। नागार्जुन ने इस उपन्यास में पितृसत्तात्मक समाज में पुरुषों की हीन मानसिकता को उजागर कर स्त्री की विभिन्न यातनाओं के मुद्दे को स्वतंत्र रूप में उठाया है।

'पारो' में पार्वती का जीवन एक बेमेल विवाह के कारण मानसिक पीड़ा से भर जाता है। वह अपने पति से समानता और सम्मान की अपेक्षा करती है, जो उसे नहीं मिलता। यह पात्र सवाल उठाता है कि विवाह में केवल सामाजिक स्वीकृति ही क्यों पर्याप्त समझी जाए, जबकि मानसिक सामंजस्य, सम्मान और साझेदारी के बिना यह बंधन नर्क साबित हो सकता है। नागार्जुन इस कथा के माध्यम से विवाह संस्था में स्त्री की भूमिका और उसकी गरिमा पर गंभीर विमर्श करते हैं।

नागार्जुन के उपन्यास हमारे सामाजिक जीवन के दस्तावेजीकरण है। विजय बहादुर सिंह लिखते हैं—''इन उपन्यासों में सबसे महत्वपूर्ण बात ग्रामीण चरित्रों में उस शक्ति की पहचान है जो 'होरी' से कहीं अधिक धनिया में थी। चम्पा, भुवन, माधुरी, उग्रतारा में कठोर संकल्प और आत्मनिष्ठा मिलती है वह धनिया (गोदान) का ही विकसित रूप है। नागार्जुन के नारी पात्र ज्यादा दुस्साहसिक और बोल्ड हैं। स्त्री स्वाधीनता के नाम पर वे भीख माँगते नहीं दिखते, बल्कि 'मधुरी' के रूप में वे अन्याय, सहिष्णु और पुरुष को ललकार कर आगे खींचते हैं। नारी चरित्रों की नेतृत्व प्रखरता नागार्जुन की अपने देन है।''[8]

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि ''नागर्जुन के पुरुष पात्रों की अपेक्षा स्त्री पात्र अपनी मिट्टी और परिवेश के प्रति अपेक्षाकृत और भी सच्चे हैं, क्योंकि 'वरुण के बेटे' में राहत कार्य में विश्वविद्यालय की पढ़ी–लिखी लड़कियाँ भी शामिल हैं, मधुरी की राजनीति और सामाजिक समझ सबको प्रभावित भी करती है फिर भी वे या उस जैसे और पात्र अपने वर्ग के प्रतिनिधि स्त्री–पात्र नहीं हैं। नागार्जुन के स्त्री पात्र सामाजिक रूढ़ियों और सामंती अत्याचारों के शिकार हैं और चाहे युवावस्था का वैधव्य हो या फिर

वेश्यावृत्ति का कुंभीपाक, अपनी निजी यातना के माध्यम से ही वे इसे समझते हैं कि आर्थिक आत्मनिर्भरता ही उन्हें इस अमानवीय नरक से बाहर निकाल सकती है। 'रतिनाथ की चाची' में गौरी ने सामाजिक व्यवस्था और रूढ़ियों के हाथों कितना सहा है कि वह चुहिया और नेवले की जिंदगी को भी औरत होने से अच्छा समझती है।...चम्पा, जो सफर के साथ कुलसुम और सरदारों के साथ सतवन्त कौर बनने को अभिशप्त है। इन सारे असंतोष और व्यवस्था को एक व्यापक घुटन और परवशता से जोड़कर देखने की अपील करती है। चाहे सामाजिक दृष्टि से घृणित और हेय समझे जाने वाली ये युवतियाँ हों, विधवा होकर भी चुपचाप, मुंह खोलकर गर्भ होने को विवश गौरी हो या फिर इमरतिया या उगनी हो—ये सब की सब सामाजिक व्यवस्था की शिकार स्त्रियाँ हैं। कहीं वे धर्म के ठेकेदारों द्वारा, जो इस मौजूदा सामाजिक व्यवस्था में अपनी स्थिति की सारी साधारणता के बावजूद स्त्रियों से बहुत बेहतर स्थिति में हैं, उन पर अत्याचार करने और हक जमाने का अधिकार उन्हें पीढ़ियों और परंपराओं से मिलता आया है और कुछ नहीं तो सिर्फ इसलिए की वे पुरुष हैं।''[9]

नागार्जुन की स्त्री पात्र आजादी और बदलाव की शीघ्रतम चाह रखती हैं तथा उनके लिए वे यथाक्षम अनुचेष्टा रखती हैं। अपने उपन्यासों में चाहें रतिनाथ की चाची, उगनी, पारो, इमरतिया, मधुरी आदि चित्रांकन कर कथाकार का ध्येय मात्र कथा प्रकरण को आगे ले चलना नहीं था, प्रेमचित्रण करना या उन जैसे पात्रों का इतिहास लिखना नहीं था। जबकि लेखक के जरिए स्त्री की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक भूमिका, दशा एवं दिशा में कुशल एवं सकारात्मक परिवर्तन के लिए ही कथाकार ने उन पात्रों और चरित्र-चित्रणों का आश्रय लिया। यदि कोई स्त्री अपनी प्रभुत्वों एवं दायित्वों के प्रति सचेत और स्वायत्त हैं, तो उसका आत्मगौरव नि:संदेह उच्च होगा और वे देश के विकास में उत्कृष्ट योगदान दे सकती हैं। नागार्जुन की स्त्रियाँ आज के परिप्रेक्ष्य में भी प्रासंगिक हैं, क्योंकि वे हमें सिखाती हैं कि आत्मसम्मान और अधिकार की लड़ाई निरंतर चलती रहती है, चाहे समय कोई भी हो।

नागार्जुन के स्त्री पात्र केवल साहित्यिक प्रतीक नहीं, बल्कि भारतीय स्त्री के सामूहिक संघर्ष की ऐतिहासिक साक्षी हैं। वे यह दर्शाते हैं कि परिस्थितियाँ कितनी भी कठिन क्यों न हों, स्त्री अपनी जीवन-शक्ति और जिजीविषा से परिवर्तन की राह बना सकती है। नागार्जुन का साहित्य भारतीय ग्रामीण स्त्री के संघर्ष का सजीव अभिलेख है। उनके उपन्यासों में स्त्री पात्र केवल पारंपरिक भूमिकाओं में बंधी नहीं, बल्कि अपनी परिस्थितियों को चुनौती देने वाली हैं। वे यह संदेश देती हैं कि परिवर्तन की प्रक्रिया धीमी हो सकती है, लेकिन वह अनिवार्य है।

आज, जब हम महिला सशक्तिकरण की बात करते हैं, तो नागार्जुन के उपन्यास हमें यह याद दिलाते हैं कि सशक्तिकरण केवल अधिकार मिलने से नहीं होता, बल्कि वह अपने भीतर प्रतिरोध की चेतना, आत्मनिर्भरता और न्याय की आकांक्षा से जन्म लेता है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. रीति काव्य की भूमिका, डॉ. नगेन्द्र, पृष्ठ - 162
2. सुदामा पांडे का प्रजातंत्र, धूमिल, पृष्ठ - 91
3. नागार्जुन रचनावली-4, शोभाकांत (सं.), राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पहला संस्करण-2003, पृष्ठ - 29
4. नागार्जुन रचनावली-4, शोभाकांत (सं.), पृष्ठ -174
5. वरून के बेटे, नागार्जुन, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण -2003, पृष्ठ - 111
6. नागार्जुन रचनावली- 5, शोभाकांत (सं.), पृष्ठ -178
7. राष्ट्रीय सहारा, लखनऊ 11.11.1998, मुद्रा राक्षस, पृष्ठ -7
8. नागार्जुन का रचना संसार, विजय बहादुर सिंह, संभावना प्रकाशन, हापुड़, प्रथम संस्करण - 1982, पृष्ठ -123
9. वर्तमान साहित्य, मधुरेश, मई : 2011, पृष्ठ -20
10. हिंदी साहित्य में स्त्री - चित्रण, प्रेमशंकर शर्मा, वाणी प्रकाशन, 2001

डॉ. प्रीतिलता सिंह
सहायक प्रोफेसर
बाबा रामदल सूरजदेव स्मारक महाविद्यालय,
पकवाइनार, रसड़ा, बलिया उत्तर प्रदेश-221712
ईमेल: pritilatasinghmau@gmail.com

अमरकांत जन्म-शताब्दी : अचर्तित कहानियों का नए सिरे से मूल्यांकन

– *पवन कुमार पाल*

शोध सारांश

इस वर्ष हिन्दी नई कहानियों के हस्ताक्षर कहानीकार अमरकांत की जन्म शती है। अमरकांत का जन्म 01 जुलाई, 1925 ई. को ग्राम-भागलपुर, जिला-बलिया, उत्तर प्रदेश में हुआ था। अमरकांत का रचना संसार विपुल है। वर्ष 2007 में इन्हें इनके उपन्यास 'इन्हीं हथियारों से' के लिए साहित्य अकादमी पुरस्कार मिला। अगले दो वर्ष पश्चात् 2009 में श्रीलाल शुक्ल के साथ संयुक्त रूप से इनके सम्पूर्ण साहित्य के लिए इन्हें ज्ञानपीठ पुरस्कार प्राप्त हुआ। हिन्दी नई कहानी आंदोलन के प्रणेता लेखक त्रयी मोहन राकेश, राजेन्द्र यादव और कमलेश्वर थे। इन्हीं के समकालीन अन्य लेखक त्रयी अमरकांत, मार्कण्डेय और शेखर जोशी का नाम हिन्दी साहित्य में समादृत है। अमरकांत हिन्दी कहानी लेखन की परंपरा में प्रेमचंद के बाद के बड़े लेखक हैं, इन्होंने अपने लेखन में समाज के निम्न वर्ग, निम्न-मध्यवर्ग और मध्यवर्ग के लोगों की जिजीविषाओं और जीवनानुभवों का बखूबी इस्तेमाल करते हुए बेहद प्रभावशाली ढंग से उनका चित्रण किया है। राजेन्द्र यादव ने 21 कहानियों के संग्रह का नाम 'एक दुनिया : समानांतर' रखा। उस कहानी संग्रह की पहली कहानी 'जिंदगी और जोंक'[1] है, जो अमरकांत द्वारा ही प्रतिपादित है। इस कहानी संग्रह में अमरकांत की कहानी को पहली कहानी रखने से उनके कहानीकार होने की शख्सियत का अंदाजा लगाया जा सकता है। अमरकांत की कहानी 'डिप्टी-कलक्टरी' सन् 1955 ई. में छपी। संभवतः यह उनके द्वारा रचित लंबी कहानियों में से एक है। अमरकांत द्वारा रचित कहानियों में अक्सर कुछ चुनिंदा कहानियों को पढ़ा व उनका नाट्य-मंचन किया जाता आ रहा है जैसे कि 'दोपहर का भोजन', 'डिप्टी-कलक्टरी' एवं 'जिंदगी और जोंक'। उनके शती स्मरण पर कुछ अचर्चित कहानियों ('लड़की की शादी', 'मूस', 'असमर्थ हिलता हाथ' तथा 'पलाश के फूल') का आलोचनात्मक विश्लेषण व नए सिरे से मूल्यांकन करने का प्रयास किया जा रहा है।

बीज शब्द – कहानी, लड़का, लड़की, शादी, जाति, एहसान आदि।

मुख्य विषय – विश्लेषण के क्रम में पहली कहानी 'लड़की की शादी' है। जिसका मुख्य विषय लड़की की शादी करना है। उसके लिए उसे वर पक्ष के परिवार से जितना झूठ व दिखावा किया जा सकता है वह किया गया। इस कहानी में लड़की के पिता का चरित्र अपने हितार्थ के लिए कुछ भी करना पड़े वह उसके लिए भी तैयार हो जाते हैं। एहसान के प्रति उनका दोहरा व्यक्तित्व नजर आता है। उनके द्वारा कहे गए कथनों पर अंतर्विरोध नजर आता है। जाति की बात करते हुए लड़के से उसका नाम पूछते हैं। लड़का अपना नाम कृष्णमोहन बताता है तो वे यह कहकर उसकी जाति पूछते हैं कि वैसे तो मैं जात-पात में विश्वास नहीं करता फिर भी तुम्हारी जाति क्या है? ''मैं जाति-वाति में विश्वास नहीं करता। केवल जानकारी के लिए... हाँ, तो तुम कौन बिरादर हो?''[2] लड़का अपने उत्तर में 'चतुर्वेदी' कहता है।

1. मेरा प्रश्न यह है कि जब आप जाति-वाति/जात-पात में विश्वास नहीं करते हैं तो उसके बाद का फिर भी.... क्यों?
2. यदि कृष्णमोहन इनकी जाति का न होता तो क्या वे अपनी लड़की का विवाह उससे फिर भी कर देते?

लड़की के पिता अपनी इकलौती बेटी का रिश्ता बड़े-बड़े मंत्री, कलेक्टर और ऊँचे घराने में करने की कोशिश कर रहे थे परंतु सभी के यहाँ से निराशा ही हाथ लगी। लड़की के पिता का परिवार संभ्रांत व धनी था, अपने हैसियत के हिसाब से वे अपनी पुत्री का विवाह भी ऐसे ही घराने में करना चाहते थे जहाँ वह रानी बनकर रहे तथा उसे ऐशोआराम में जीवन बीताना पड़े परंतु अथक प्रयास करने के बावजूद भी वे असफल रहे। उन्होंने सिफारिश से एक दूर के मित्र के कहने पर एक लड़के की नौकरी लगवाई थी। इस बात को काफी दिन हो गए थे और वे इस घटना को लगभग भूल गए थे। वह लड़का उनकी स्मृतियों में अकस्मात कौंधता है जो उन्हें कभी-कभी रास्ते में मिल जाता था तो वह लड़का उन्हें अत्यधिक ही झुककर नमस्कार करता तो वे उस पर बिना ध्यान दिए हुए आगे बढ़ जाते थे। आज अचानक इस लड़के की याद आने के पीछे का कारण साफ नजर आ रहा था। अब वे उस लड़के से मिलने को लालायित होने लगे फिर अचानक वह उन्हें गंगा के किनारे दिख जाता है तो वे उससे मिलने जाते हैं उसका नाम, पता पूछते हैं और बातों ही बातों में वे उस लड़के से उसकी जाति क्या है? और क्या वह अभी तक अविवाहित है? जान लेना चाहते हैं। इस काम में वे निपुण थे। लड़के से वे उसका अस्थाई पता ले लेते हैं और एक दिन अचानक वे उसके यहाँ पहुँच जाते हैं। वे अब उस लड़के को बड़ी रकम की नौकरी का लालच देते हुए यह कहना नहीं भूलते कि वे कभी एहसान नहीं जताते। इसके पीछे की उनकी मंशा कांच की तरह साफ व पारदर्शी थी। अंत में लड़के को तीन दिन का समय देकर वे उसके पास से वापस आ जाते हैं। उसके उत्तर का इंतजार आखिरी दिन तक करते हैं। उन्हें लगा कि लड़के का जवाब न है और वह शादी के लिए भी तैयार नहीं होगा तो उसी समय उनके दिमाग में उस लड़के के प्रति वैमनस्य की भावना जन्म लेती है एवं उस लड़के को मास्टरी की नौकरी से निकलवाने के अलावा बड़ा दंड देने को सोचने लगे तभी वहाँ एक अपरिचित नवयुवक आकर उन्हें पत्र का लिफाफा देकर चला जाता है। वे उस पत्र को पढ़ते हैं तो वह पत्र कृष्णमोहन अर्थात् उसी लड़के का होता है। उस पत्र में उसने उन्हें नौकरी दिलाने के प्रति कृतज्ञता अर्पित की थी एवं शहर में प्रवास के दौरान एक लड़की से शादी के प्रस्ताव का वायदा का भी जिक्र किया था... अंत में उस लड़के की 1500 रुपये मासिक वेतन पर मैनेजर का पद दिलवा दिया और अपनी लड़की की शादी उससे करवा दी।

3. मुख्य प्रश्न यह है कि क्या व्यक्ति का अहंकार इतना बड़ा है कि यदि उसके स्वार्थ की सिद्धी न हो तो वह व्यक्ति, समाज और संस्था को नेस्तनाबूत करने की सोचे? 'इस अपमान का बदला मैं जरूर लूँगा। जो मेरी इच्छा को ठुकराएगा, उसको फल भुगतने के लिए तैयार रहना चाहिए। स्कूल की मास्टरी तो कल ही चली जाएगी। लेकिन इतना ही काफी न होगा, कोई कड़ा दंड।'[3]

4. माता-पिता को अपने संतान के बारे में उसकी अच्छाइयाँ व बुराइयाँ का पता होता है। इस कहानी में लड़की के पिता अपनी बेटी की कमियों को अच्छाई में परिवर्तित करके व्याख्यायित किया है। लड़के से एक सफेद झूठ बोला जा रहा था, क्या रिश्ता झूठ की बुनियाद पर टिकता है? पिता का अपनी बेटी के बारे में कथन यह है कि- 'वह खूबसूरत नहीं थी। शरीर थुलथुल था, और नाक चपटी। जनते ही चेचक से एक आँख जाती रही थी। मैंने सोचा था कि उसको अधिक-से-अधिक पढ़ाऊँगा, और काबिल बनाऊँगा। लेकिन वह इतनी घमंडी, हठी, क्रोधी और आलसी निकली कि इन्टर के आगे पढ़ने से इनकार कर दिया। लाड़-प्यार के कारण वह कोई शऊर-अऊर भी सीख न सकी।'[4]

5. एक और प्रश्न यह कौंधता है कि क्या कृष्णमोहन इस शादी से खुश रह पाएगा? या फिर वह शादी सिर्फ इसलिए कर रहा है कि लड़की के पिता का उसको नौकरी दिलाने का एहसान है। क्या यह शादी उसी एहसान का कर्ज है?

6. और हाँ, उसका क्या जिस लड़की से कृष्णमोहन ने विवाह करने का वायदा किया था?

दूसरी कहानी 'मूस' है जिसमें मूस, परबतिया और मुनरी नामक पात्रों के माध्यम से यह बताया गया है कि निम्न वर्ग के घरों में जहाँ स्त्री घर के सभी सदस्यों के खाना खाने के बाद खाया करती हैं वहीं परबतिया नामक स्त्री इस ढकोसले को नहीं मानती वह सबसे पहले खाना खा लेती है। उसके खाने के बाद चाहे खाना बचे या नहीं इसकी चिंता वह नहीं करती थी। परबतिया ने अनजाने में ही सही सदियों से चली आ रही इस रूढ़िवादी सोच को तोड़ा। एक स्त्री (परबतिया) दूसरी स्त्री (मुनरी) को काम के लिए अपने साथ इसलिए शहर बुला लाती है कि वह उसकी घरेलू कार्यों में कुछ हाथ बटा लिया करेगी

और वह अपने पसंद के मुताबिक किसी के साथ जीवन यापन कर सकती है। इसी विश्वास के साथ मुनरी परबतिया के साथ आ जाती है। मुनरी परबतिया के उठने से पहले घर का चूल्हा-चौका, झाड़ू-बर्तन और दाना-पानी की व्यवस्था कर देती थी। कुछ आस-पास के घरों में वह झाड़ू-बर्तन का काम पकड़ ली थी जिससे परबतिया को आर्थिक मदद की पूर्ति भी हो जाती थी। इन्हीं सब को देखते हुए परबतिया ने मुनरी का विवाह अपने पति से करने का प्रस्ताव रख देती है और मुनरी मान भी जाती है। लेखक ने लिखा है कि- "परबतिया की स्कीम दूसरी ही थी। उसके लिए मुनरी कामधेनु गाय थी, जिसकी पगहिया को वह मूस जैसे निरीह से बाँधकर अपनी काहिली और असमर्थता और पति की अर्ध-बेकारी की समस्या हल करना चाहती थी।"[5]

मूस जो पहले एकदम सीधा था औरतों की तरफ तो आँख उठाए बिना ही आगे बढ़ जाता और तो और उसने कभी पत्नी के सामने जबान भी नहीं खोली। वहीं उसके जीवन में मुनरी के आने के बाद तो उसका एक नया रूप ही देखने को मिलता है। जब एक बार उसने मुनरी को मारा था तबसे मुनरी भागकर फुलौड़ी वाले बिसुन के पास जाकर रहती है तब वह बिसुन के यहाँ लाठी लेकर उससे लड़ने चला जाता है। "अरे बिसुनवा! मर्द का बच्चा है तो बाहर निकल आ।"[6]

जब मूस ने मुनरी को मारा तो परबतिया ने उसे समझाया कि वह घर छोड़कर ना जाए दरअसल इसके पीछे परबतिया का स्वार्थ छिपा है कि यदि मुनरी चली जाती है तो उसे फिर से आर्थिक तंगी व बेकरी में जीवन बिताना पड़ता। "वह चाहती थी कि मुनरी खूँटे से बँधी रहे, साथ ही पक्की खिलाड़ी भी बन जाए। वह मुनरी का पूरी तरह शोषण करना चाहती थी।"[7] मुनरी मूस और परबतिया के आर्थिक संकट के दौरान भी उनकी मदद करने को आई एवं मूस की बीमारी के इलाज के लिए पाँच रुपए तथा अनाज के रूप में एक लोटे में दाल-चावल लाई। मुनरी दूसरे की पत्नी होते हुए वह आत्मीयता के भाव से मदद करने आई थी। जाते-जाते उसने परबतिया से कहा कि "तुम लोगों का उपकार क्या भूल पाऊँगी? तुम लोगों ने हाथ न पकड़ा होता तो ये दिन देखने को न मिलते।"[8]

तीसरी कहानी 'असमर्थ हिलता हाथ' जो इस बात का प्रतीक है कि जो गलती लक्ष्मी ने की वह अब अपनी बेटी को नहीं करने देगी। वह तो अपने माँ-बाप के समक्ष बेबस थी और उनकी सलाह पर उसने किसी और व्यक्ति से शादी कर ली परंतु वह खुश नहीं रह पाई। अपने पति के परिवार में फूट डालकर अलग्योझा करवा दिया। पति और बच्चों को अपने नियंत्रण में कर लिया। अब वह मृत्युशय्या पर पड़े रहकर यह सोचती है कि अपनी लड़की मीना का विवाह उसके पसंद के लड़के से ही करवाए जिससे कि कम-से-कम वह खुश रह सके। लक्ष्मी असमर्थ इसलिए है कि वह यह सब उसके मृत्युशय्या पर पड़े-पड़े कैसे संभव होगा?

चौथी कहानी 'पलाश के फूल' है, जिसमें नवलकिशोर राय साहब अपने मित्र से अपनी जवानी के किस्से को बताते हैं कि उन्होंने कैसे किसी लड़की के जीवन को बर्बाद किया तिस पर उन्हें तनिक भी अपराध बोध नहीं होता है और यह सब कृत्यों के पीछे भगवान को एक प्रकार से जिम्मेदार ठहराते है। 'वह चाहते थे कि मैं शैतान के चक्कर में फँसूँ, जिससे मेरी आँखें खुलें!' नवलकिशोर कहते हैं कि "मैं साल में आठ-नौ महीने तो वहीं रहता और ऐश करता। बीच में वैसे कभी कुछ दिनों के लिए आकर बाल-बच्चों और यहाँ की गृहस्थी की खोज-खबर ले जाता। एक तो मैं खुद खासा जवान था, इस पर पैसा और शक्ति.. न मालूम कितनी ही .."[9]

समाज में बयालीस की उम्र में व्यक्ति ढलने लगता है और नवलकिशोर राय तो उस उम्र में 15-16 साल की लड़की के चक्कर में फँस जाते हैं। तीन वर्ष तक उन्होंने उस लड़की का शारीरिक शोषण किया। जब लड़की का बाप या गाँव समाज के लोग आवाज उठाने की कोशिश करते तो नवलकिशोर उनको पैसे देकर उनका मुँह बंद कर देता था। "जानता था, गाँववाले खुसुर-पुसुर करते, पर मुझसे सभी काँपते, मेरी प्रजा जो थे। रुपये के बाल से भुलई (लड़की का पिता) का मुँह बंद था।"[10]

एक दिन जब लड़की उनसे आकर कहती है कि मुझे अपनी रखैल रख लो तब उनको लगा कि ऐसा किया तो मेरे बीवी-बच्चे मुझ पर सवाल उठायेंगे। भाई मेरे भगवान की कृपा से मेरी आँखें खुली नहीं तो वह लड़की पता नहीं क्या-क्या करती। प्रश्न यह है कि जब तक उन्होंने लड़की के देह का सुख भोगा तब तक सब ठीक था परंतु जैसे ही उसने उनके साथ रहने की बात कही तब से उनके ज्ञान चक्षु खुल गए "भैया, ऐसा लगा कि मेरे दिमाग में एक रोशनी जल उठी है। सब कुछ साफ होता

गया। मेरे अंदर कोई कह रहा था, नवलकिशोर, तुम आज तक शैतान के चक्कर में रहे, वही शैतान तुम्हारी इज्जत, जमीन-जायदाद, बाल-बच्चे, सभी कुछ छीनकर तुम्हें बर्बाद करना चाहता है!''[11] नवलकिशोर अपने पापों का प्रायश्चित न करके उस परम पिता परमेश्वर पर सब डाल देता है''सब भगवान सोचवा रहा था। वह चाहते थे कि मैं शैतान के चक्कर में फँसूँ, जिससे मेरी आँखें खुलें!''[12]

इन सभी कहानियों के अतिरिक्त एक और कहानी है जिस पर एक नए दृष्टि से सोचने की आवश्यकता है। कहानी का नाम है 'जिंदगी और जोंक'। इस कहानी का मुख्य पात्र गोपाल है। अभिजात्य वर्ग की महिलाएं अपने बड़े बुजुर्गों का नाम लेने से कतराती हैं इसीलिए गोपाल को रजुआ नाम दिया जाता है। जो की अपना जीवन यहाँ-वहाँ कुछ काम करके व्यतीत करता था। एक दिन शिवनाथ बाबू के यहाँ से साड़ी चोरी होने का आरोप रजुआ पर लगाया जाता है और सभी लोग उसकी पिटाई करते हैं और वह कहता रहा कि ''मैं बरई हूँ, बरई हूँ, बरई हूँ।''[13] बरई अर्थात् मैंने चोरी नहीं की या बरई कभी चोरी नहीं कर सकता परंतु उसकी किसी ने एक न सुनी। बाद में साड़ी शिवनाथ बाबू के घर पर ही मिलती है। बावजूद उससे माफी के कुछ शब्द कहने के शिवनाथ बाबू कहते हैं कि ''चमार-सियार डाँट-डपट पाते ही रहते हैं।''[14] और तो और यह कहने से नहीं चूकते कि ''चलिए साहब, नीच और नींबू को दबाने से ही रस निकलता है!''[15] शिवनाथ बाबू को थोड़ा भी अपराधबोध नहीं होता कि उन्होंने किसी गरीब व बेकसूर को ऐसे ही पीटा। चमार एक जाति है जो कि सामाजिक व्यवस्था में शूद्र वर्ग के खाने में आकर बैठती है। इसे नीच जाति भी माना गया है तो क्या शिवनाथ बाबू ऐसे किसी भी व्यक्ति के भी आत्मसम्मान को ठेस पहुँचा सकते हैं? यह पंक्ति 'नीच और नींबू को दबाने से ही रस निकलता है।' दूषित अमानवीय सामाजिक व्यवस्था को रेखांकित करती है। यह वह व्यवस्था है जहाँ निम्न वर्ग जीना तो चाहता है किन्तु सामर्थ्य वर्ग के लोग उन्हें जीने नहीं देते। वे लोग उसे नींबू की तरह निचोड़ते ही रहते हैं जब तक कि उसके प्राण न निकाल जाएँ। इस पंक्ति को दलित विमर्श के नजरिए से देखने व परखने की आवश्यकता है और कब तक शिवनाथ बाबू जैसे कथानकों को यह छूट मिलती रहेगी, उन पर भी लगाम कसने की आवश्यकता है।

संदर्भ

- ⋆ कहानी संग्रह, एक दुनिया : समानांतर, संपादक : राजेन्द्र यादव, बीसवाँ संस्करण : 2019, राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड जी-17, जगतपुरी, दिल्ली-110051
1. 'वही', पृष्ठ सं- 67
- ⋆ प्रीतिनिधि कहानियाँ : अमरकांत, बारहवाँ संस्करण : 2023, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि. 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली-110002
2. कहानी 'लड़की की शादी', पृष्ठ सं- 78
3. 'वही', पृष्ठ सं- 84
4. 'वही', पृष्ठ सं- 76-77
5. कहानी 'मूस', पृष्ठ सं- 91-92
6. 'वही', पृष्ठ सं- 94
7. 'वही', पृष्ठ सं- 94
8. 'वही', पृष्ठ सं- 97
9. कहानी 'पलाश के फूल', पृष्ठ सं- 135
10. 'वही', पृष्ठ सं- 138
11. 'वही', पृष्ठ सं- 139
12. 'वही', पृष्ठ सं- 139
13. कहानी 'जिंदगी और जोंक', पृष्ठ सं- 48
14. 'वही', पृष्ठ सं- 49
15. 'वही', पृष्ठ सं- 49
- ⋆ कहानी संग्रह, एक दुनिया : समानांतर, संपादक : राजेन्द्र यादव, बीसवाँ संस्करण : 2019, राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड जी-17, जगतपुरी, दिल्ली-110051
- ⋆ कहानी 'जिंदगी और जोंक', पृष्ठ सं- 69

पवन कुमार पाल

शोधार्थी- हिन्दी विभाग

हिमाचल प्रदेश केन्द्रीय विश्वविद्यालय, धर्मशाला

ई-मेल : palpawankumar66@gmail.com

कितनी सशक्त हुई भारतीय नारी

— संतोष कुमार

डॉ. भीमराव अंबेडकर ने मनुस्मृति को 25 दिसंबर, 1927 को महाराष्ट्र के महाड़ में सार्वजनिक रूप से जलाया था। मनुस्मृति समाज में जातिगत भेदभाव को बढ़ावा देती है और महिलाओं एवं दलितों को दोयम दर्जे का नागरिक मानती है। इसलिए मनुस्मृति को जलाना जरूरी था। बाबा साहेब डॉ. भीमराव अम्बेडकर ने दलितों एवं महिलाओं के लिए जो लड़ाई लड़ी वह बहुत साहसिक कार्य था। देश के निर्माण में उनका अमूल्य योगदान रहा, इसलिए उनका नाम पूरे देश में सम्मानपूर्वक लिया जाता है।

किसी भी राष्ट्र के निर्माण में महिलाओं की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण होती है। यह भूमिका भी प्रभावशाली ढंग से वे तभी निभा सकती हैं जब वे सशक्त होंगी। एक उन्नत समाज एवं प्रगतिशील राष्ट्र के निर्माण हेतु नारी सशक्तिकरण की आवश्यकता महसूस की गई। नारी सशक्तिकरण का आशय है नारी को शक्तिशाली और सामर्थ्यवान बनाने से है। महिलाओं के संदर्भ में सशक्तिकरण को हम सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक असमानताओं से उत्पन्न समस्याओं एवं रिक्तियों से निपटने के प्रभावी उपाय के रूप में देख सकते हैं। वर्तमान समय में घर एवं बाहर दोनों जगह पर भारतीय नारी की भूमिका महत्वपूर्ण हुई है। परिवार जो की प्रारंभिक इकाई है, नारी केंद्रीय भूमिका में होती है। साथ ही प्रथम गुरु के रूप में वह बच्चों को अच्छे से अच्छा संस्कार भी प्रदान करती है जो कि भविष्य में देश के कर्णधार बनकर राष्ट्र के निर्माण में अपना योगदान भी देते हैं। घर से बाहर भी नारी की भूमिका को काम करके आका नहीं जा सकता है उसने अंतरिक्ष में उड़ान भरकर पुरुषों के वर्चस्व एवं अहंकार को तोड़ा है। वह अलग-अलग भूमिकाओं में समाज व राष्ट्र के प्रति अपने योगदान को प्रस्तुत करके अपनी उपयोगिता को सुनिश्चित कर रही है, फिर भी आज वह विविध स्तरों पर भेदभाव और असमानताओं का शिकार है, जबकि उन्हें सशक्त बनाने के लिए अनेक प्रयास किए जा रहे हैं। वैसे भी सशक्तिकरण एक सतत प्रक्रिया है जिसकी अंतिम सीमा नहीं है। फिर भी अब तक की प्रक्रिया के पारदर्शी एवं संतोषजनक परिणाम नहीं मिले हैं जो कि इस विषय का कटु सत्य है।

मध्यकाल में हुए विदेशी आक्रमणों ने हमें दोहरी क्षति पहुँचाई है। यह हमला हमारे सरहदों के साथ-साथ हमारे संस्कृति एवं हमारे मान सम्मान पर भी हुआ। विदेशी आक्रांताओं ने नारी अस्मिता को भी निशाना बनाया जिससे हमारी संस्कृति और समाज संक्रमित हुआ। महिलाओं की स्थिति बद से बदतर हुई और इसी काल में बाल विवाह, बालिका वध, सती प्रथा, पर्दा प्रथा जैसी अनेक कुरीतियों अस्तित्व में आई, जिन्होंने महिलाओं की स्थिति को दयनीय बना दिया। उन्हें घर की चार दीवारी के अंदर कैद कर दिया गया। परिणामस्वरूप शिक्षा सहित जीवन के अनेक क्षेत्र में उल्लेखनीय प्रगति करने से वंचित रह गई। समय गुजर गया, मगर समय का घाव नहीं भरा, मध्यकाल के बाद ब्रिटिश काल आया, किंतु महिलाओं की स्थिति में सुधार नहीं आया। अंग्रेजों का मकसद भारत में हुकूमत करना था, न कि समाज में सुधार लाना। पराधीनता के उस दौर में स्वाधीनता आंदोलन के नेताओं ने समाज सुधार के प्रयासों को बल मिला। यही वह समय था जब भारतीय नारी ने दृढ़ इच्छा शक्ति के साथ घर की दहलीज के बाहर कदम रखा। स्वाधीनता आंदोलन के दौरान लिखने में योगदान दिया। समाज सुधारकों की पहल पर महिलाओं से जुड़ी कुप्रथाओं के विरुद्ध कानून बनाने की प्रक्रिया भी इसी दौर में शुरू हुई। बाल विवाह की रोकथाम हेतु, शारदा एक्ट का उल्लेख हम एक उदाहरण के रूप में प्रस्तुत कर सकते हैं।

यह सच है कि स्वाधीनता आंदोलन के दौरान एक नई चेतना जागृत हुई और उसने घर के बाहर कदम रखा किंतु इस वर्ग में मुख्तया हुआ वही जो नारियाँ थीं, जिनके परिवार की पृष्ठभूमि या तो राजनीतिक थी अथवा जिन्हें स्वाधीनता आंदोलन के नेताओं का व समाज सुधारकों को सानिध्य प्राप्त था। निम्न वर्ग की महिलाएँ अभी भी उपेक्षित थीं, उनकी स्थिति में कोई विशेष सुधार नहीं हुआ था। कारण यह कि देश की आजादी के बाद भी भारत के नौ निर्माण हेतु नारी सशक्तिकरण की आवश्यकता पड़ी। जब देश स्वतंत्र हुआ था तब शिक्षा का अधिकार, सहभागिता जागरूकता, सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक आदि कई रूपों से भारतीय नारी पिछड़ी हुई थी और एक हद तक वर्तमान क्षण भेदभाव और असमानता की भी शिकार थी। इस समाज में उन्हें दोयम दर्जे का स्थान प्राप्त था, इन्हीं सब बातों को ध्यान में रखकर जहाँ भारतीय संविधान के अनुच्छेद 14 में महिलाओं एवं पुरुषों को राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक क्षेत्रों में समान अधिकार और अवसर प्रदान किए गए हैं, वहीं अनुच्छेद 16 के जारी होने पर उन्होंने रोजगार के समान अवसर भी उपलब्ध कराने की बात कही गई है। महिलाओं का शोषण, भेदभाव एवं दमन से बचने हेतु उन्हें विधिक संरक्षण भी प्रदान किया गया है।

इसमें कोई दो राय नहीं है कि आजादी के बाद भारतीय नारी की स्थिति में सुधार आना शुरू हुआ, बल्कि भारत के आजादी के समय देश में महिलाओं की साक्षरता दर 8.86% थी जो कि वर्ष 2011 की जनगणना में बढ़कर 64.6% हो गई। महिलाएँ बढ़-चढ़कर राष्ट्र के निर्माण में भाग ले रही हैं, आज सेना से लेकर कोई भी क्षेत्र ऐसा नहीं बचा है, जहाँ महिलाओं ने अपनी उपलब्धियाँ हासिल न की हों। अग्नि मिसाइल के सफल परीक्षण हेतु महिला वैज्ञानिक थी थॉमस जिनका नाम न सिर्फ सम्मान के साथ लिया जाता है, बल्कि उन्हें अग्निपुत्री के खिताब से भी नवाजा गया था। ये सब अधिकार बाबा साहेब डॉ. भीमराव अम्बेडकर के सानिध्य से प्राप्त हुआ है। उन्होंने संविधान में सभी महिलाओं को ये सब अधिकार उपलब्ध कराए हुए हैं।

सरकार द्वारा महिला सशक्तिकरण को कदम दर कदम आगे बढ़ाया जा रहा है। इस क्रम में महिला सशक्तिकरण हेतु राष्ट्रीय मिशन को बेहद महत्वपूर्ण माना जा रहा है। 8 मार्च, 2025 को अंतर्राष्ट्रीय महिला दिवस के अवसर पर देश की तत्कालीन राष्ट्रपति श्रीमती द्रौपदी मुर्मू जी ने अपने संदेश कहा कि 'आज हम महिलाओं की असाधारण उपलब्धियों का जश्न मना रहे हैं। महिलाएँ हर क्षेत्र में आगे बढ़ रही हैं और नए मुकाम हासिल कर रही हैं। हमें महिलाओं को और अधिक अवसर देने चाहिए ताकि वे अपनी पूरी क्षमता से समाज और देश की प्रगति में योगदान हो सकें।'

उन्होंने आगे कहा कि हम सभी को महिलाओं के अधिकारों, समानता और सशक्तिकरण के लिए ठोस कदम उठाने चाहिए। एक समानता भरा समाज तभी सम्भव है जब महिलाओं को बिना किसी भेदभाव के अपने सपनों को साकार करने का अवसर मिले।

अभी भी लैंगिक समानता और महिला सशक्तिकरण के लिए और भी प्रयास किए जाने की आवश्यकता है। गुणवत्तापूर्ण शिक्षा के माध्यम से हमारी बेटियों को सशक्त बनाना हमारी प्रतिबद्धता है, ताकि वह अपना वास्तविक सामर्थ्य प्राप्त कर सकें। हमारी बेटियाँ घरों की ही नहीं पूरे देश की शान हैं।

मैं महिला दिवस के सफल आयोजन और देश की नारी शक्ति के सुखद भविष्य की कामना करती हूँ। महिलाओं से जुड़ी दहेज सहित अन्य विकृतियों के विरुद्ध कानून बनाकर उसे विधिक संरक्षण प्रदान करने के प्रयास किए गए हैं। पंचायती राज व्यवस्था में महिलाओं का प्रतिशत बढ़ाने का उद्देश्य जहाँ पहले से उन्हें एक तिहाई आरक्षण प्रदान किया गया था, वहीं अब पंचायती राज व्यवस्था के 50 वर्ष से ऊपर होने के उपलक्ष में महिलाओं के लिए पंचायती शहरी निकायों में आरक्षण की सीमा बढ़ाकर 50% करने का निर्णय लिया गया। महिला आरक्षण विधेयक जिसमें महिलाओं को आरक्षण देने का प्रावधान है, अब सभी क्षेत्रों में महिलाएँ खुलकर सामने आ जाएंगी। काम की गारंटी के अभियान के रूप में शुरू किए गए मनरेगा कार्यक्रम में भी महिलाओं को विशेष ध्यान रखा गया है और आज जिसके तहत काम प्राप्त करने वाली महिलाओं की 50% हिस्सेदारी है। सरकार की सबला तथा इंदिरा गांधी मातृत्व सहयोग योजना महिलाओं को सशक्त करने की दिशा में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रही है। भारत का महिला एवं बाल विकास मंत्रालय जहाँ महिलाओं की स्थिति में सुधार के लिए कटिबद्ध है, वहीं महिलाओं की समस्याओं के समाधान हेतु महिला आयोग की स्थापना की जा चुकी है। महिला प्रधान से जुड़े मामले की सुनवाई

हेतु जहाँ पश्चिम बंगाल में पूर्ण महिला न्यायालय की स्थापना की गई, वहीं इसी सिलसिले को आगे बढ़ाते हुए मार्च 2013 को मुंबई के काला घोड़ा श्रम न्यायालय में पूर्ण महिला न्यायालय की स्थापना की गई थी। अब तो पूरे भारत के राज्यों में महिला न्यायालय की स्थापना की गई है जिसमें सभी कर्मचारी और न्यायाधीश महिलाएँ ही होंगी। न्यायालय की स्थापना का मुख्य उद्देश्य यौन अपराधों से जुड़े मामलों की सुनवाई के दौरान महिलाओं को होने वाली परेशानियों व अपमानों से बचाना। अब तो हर पुलिस थानों में भी महिलाओं को कॉन्स्टेबल बनाकर रखा गया है।

हमारी सरकारी नीतियों में इस बात का एहसास है कि विधायकों में महिला आरक्षण के बिना महिलाओं की स्थिति में सुधार नहीं किया जा सकता है। देश व राज्यों के लिए नीतियों का निर्धारण करने वाली विधायकों में जब तक महिलाओं से संबंधित अधिकार नहीं मिलेगा तब तक नीतिगत स्तर पर महिलाओं की आवाज हासिए पर रहेगी। उनके हितों का सरोकार सुरक्षित होते रहेंगे, इस बात को ध्यान में रखकर महिला संरक्षण विधेयक का प्रारूप तैयार किया गया जिसमें यह प्रावधान है कि लोकसभा, राज्यसभा में एवं राज्यों की विधानसभाओं में स्थान महिलाओं के लिए आरक्षित होगा। राजनीतिक दलों में मतैक्य का अभाव एवं क्षीण इच्छा शक्ति के कारण अब जाकर ये विधेयक पास हुआ है। संसद के विशेष शस्त्र के दूसरे दिन नई संसद में महिलाओं से जुड़ा ऐतिहासिक बिल पेश किया गया। केंद्रीय मंत्री अर्जुन राम मेघवाल ने लोकसभा में मंगलवार को महिला आरक्षण बिल पेश किया। इस विधायक को कैबिनेट से मंजूरी मिलने के बाद आज लोकसभा में पेश किया गया। इससे पहले 1996 में पेश किया गया था। इससे संसद में महिलाओं की भागीदारी 33% सुरक्षित हो जाएगी। वर्ष 1996 में महिला आरक्षण विधेयक की जाँच करने वाली संयुक्त संसदीय समिति की रिपोर्ट में सिफारिश की गई थी कि ओबीसी के लिए आरक्षण की अनुमति देने के लिए संविधान में संशोधन होने के बाद अन्य पिछड़ा वर्ग की महिलाओं के लिए आरक्षण प्रदान किया जाना चाहिए।

19 सितंबर, 2023 को प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी ने नए संसद भवन में लोकसभा में संसद के विशेष सत्र के दौरान इस विधेयक को 128 वें संवैधानिक संशोधन विधेयक 2023 के रूप में पेश किया। नारी शक्ति बंधन अधिनियम, लोकसभा में पारित होने के बाद दोबारा राज्यसभा से पास कर दिया गया।

अब बिल को राष्ट्रपति के पास भेजा गया, राष्ट्रपति की मंजूरी मिलने के बाद दोनों सदनों को अनिश्चित काल के लिए स्थगित कर दिया गया है।

जानकारों का कहना है कि महिला आरक्षण बिल को अभी भी लंबा सफर तय करना है। जनगणना और परिसीमन के बाद महिला आरक्षण विधेयक साल 2029 के लोकसभा चुनाव तक ही लागू हो सकेगा। 128वाँ संविधान संशोधन विधेयक (नारी शक्ति बंधन अधिनियम) को अब अधिकांश राज्य विधानसभाओं को मंजूरी की आवश्यकता होगी। इस जनगणना के आधार पर संसदीय और विधानसभा क्षेत्र को फिर से तैयार करने के लिए परिसीमन के बाद लागू किया जाएगा। सरकार ने कहा है कि इस प्रक्रिया को अगले साल शुरू किया जाएगा। महिलाओं को संसद में अभी 15% की हिस्सेदारी है। इस बिल को पूरी तरह से लागू होने के बाद महिलाओं की स्थिति में मूलभूत सुधार होंगे। प्रधानमंत्री द्वारा चलाए जा रहे हैं महिलाओं के लिए चलायी जा रही प्रमुख योजनाएँ में प्रधानमंत्री उज्ज्वला योजना, बेटी पढ़ाओ बेटी बचाओ योजना, फ्री सिलाई मशीन योजना, महिला शक्ति केंद्र योजना और सुकन्या समृद्धि योजना आदि हैं।

कहना है, यदि समाज की मानसिकता में बदलाव आ जाए तो फिर नारी स्वत: सशक्त हो जाएगी और तब इसके लिए अतिरिक्त प्रयास नहीं करना पड़ेगा। अत: हम कह सकते हैं कि नारियों के विकास में भारत सरकार की भूमिका के साथ समाज की भी भूमिका होनी चाहिए, जिसके तहत हम अपने देश में भारतीय नारी को मजबूती देकर और सशक्त बना सकते हैं।

संतोष कुमार
शोधार्थी
पीएचडी (रिसर्च स्कॉलर)
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

रामकथा और साकेत

— प्रदीप कुमार विश्वकर्मा

रामकथा की परम्परा बहुत प्राचीन है। वाल्मीकि रामायण से पहले भी मौखिक परम्परा में रामकथा देखने को मिलती है। यदि सूक्ष्म रूप से दृष्टि डालें तो राम की चर्चा हमें वेदों से ही मिल जाती है। पुराणों में भी रामकथा का वर्णन मिलता है। जनश्रुति के रूप में रामकथा कई रूपों में दृष्टिगोचर होती है। वाल्मीकि के पहले भी यह श्रुति परम्परा प्रचलित रही है। जनश्रुतियों से सार ग्रहण कर वाल्मीकि ने रामायण की रचना की थी। वाल्मीकि रामायण का समय लगभग 500 ई. पू. निर्धारित किया जाता है।

संस्कृत साहित्य बहुत विपुल और समृद्ध रहा है जो परवर्ती साहित्य को भी प्रेरणा और गति प्रदान करता रहा है। संस्कृत साहित्य रामकाव्य से भरा पड़ा है। वाल्मीकि रामायण, रघुवंशम्, अभिषेक नाटक तथा उत्तररामचरितम् संस्कृत के रामकाव्य पर आधारित श्रेष्ठ कृतियाँ हैं। संस्कृत साहित्य में सम्प्रति में भी रामकाव्यों की रचना अबाध गति से हो रही है। संस्कृत के साथ रामकाव्य अनेक भाषाओं में पूरे विश्व के फलक पर हमें देखने को मिलता है।

हिन्दी में रामकथा का शुभारम्भ आचार्य रामानन्द के द्वारा होता है। हालांकि इसके पूर्व भी स्वयं भू का पउमपरिउ देखने को मिलता है जो रामकथा पर ही आधारित महाकाव्य है। चन्दवरदायी के पृथ्वीराजरासों में भी रामकथा के दर्शन होते हैं। ये हिन्दी साहित्य के आदिकाल के अन्तर्गत आते हैं। आचार्य रामानन्द का समय हिन्दी का मध्यकाल ठहरता है। आपके द्वारा रामकाव्य के साथ भक्ति आन्दोलन का भी सूत्रपात होता है। कहा ही जाता है-

भक्ति द्राविड़ ऊपजी
लाये रामानन्द।

रामानन्द आकाशधर्मा गुरु कहे जाते हैं। इन्होंने भक्ति का द्वारा सभी जातियों के लिए खोल दिया। रामकथा रामानन्द, कबीर से बढ़ते हुए तुलसीदास तक पहुँचती है। कबीर के राम निर्गुण निराकार हैं जबकि तुलसीदास के राम सगुण साकार हैं। तुलसीदास ने रामकथा को तो शीर्ष पर स्थापित कर दिया। 'रामचरितमानस' हिन्दी साहित्य का अमूल्य धरोहर है जिसमें भक्ति, शील, मर्यादा सब एकत्र हो गये हैं। यह रामकथा हिन्दी के मध्यकाल को समृद्ध कर आधुनिक काल में प्रवेश करती है। भारतवर्ष के कोने-कोने में व्यासों के माध्यम से रामकथा श्रवण की जा रही है और रामलीला का भी बड़े मंच पर आयोजन किया जा रहा है।

आधुनिक काल के द्विवेदी युग में एक रत्न पैदा हुआ जिसका नाम है—श्री मैथिलीशरण गुप्त। 'साकेत' इन्हीं द्वारा प्रणीत है। मैथिलीशरण गुप्त महावीर प्रसाद द्विवेदी के सभी आकांक्षाओं के प्रतिफल थे। गुप्त द्विवेदी युग के प्रतिनिधि कवि हैं। ये महावीर प्रसाद द्विवेदी को अपना गुरु मानते थे। 'साकेत' इनकी सुप्रसिद्ध रचना है। इसे आधुनिक युग का रामायण कहा जाता है। वस्तुत: 'भारत-भारती' और 'साकेत' गुप्त जी के अक्षय कीर्ति के आधार स्तम्भ हैं।

साकेत की रचना के पीछे जो कारण है वह भी बहुत चर्चित है। महावीर प्रसाद द्विवेदी ने 'सरस्वती' पत्रिका के एक अंक में एक लेख लिखा था जिसका शीर्षक था—'कवियों की उर्मिला विषयक उदासीनता।' इसे पढ़कर गुप्त जी के मानस पटल पर उर्मिला का पूरा चरित्र उभर आया। उसका प्रतिफल 'साकेत' हमारे सामने है। साकेत की रचना सन् 1931 ई. में हुई थी। 'साकेत' पालिभाषा का शब्द है जिसका अर्थ है—अयोध्या। अयोध्या के माध्यम से गुप्त जी उर्मिला के चरित्र का वर्णन करते हैं। चूँकि ऊर्मिला भी रामकथा की एक महत्वपूर्ण पात्र है इसलिए यह भी रामकाव्य है। साकेत एक महाकाव्य है जिसका विस्तार गुप्त जी ने 12 सर्गों में किया है। चूँकि उन्हें उर्मिला के चरित्र को केन्द्र

में रखना था इसीलिए उन्होंने दो सर्गों में केवल उर्मिला का वर्णन किया है। नवम सर्ग तो उर्मिला के विरह वर्णन से भरा पड़ा है। लेकिन यह विरह वर्णन सुध-बुध खो बैठने वाला नहीं है वरन् उससे ऊपर है—

''डूबी बची लक्ष्मी पानी में, सती आग में पैठ,
जिये ऊर्मिला, करे प्रतीक्षा, सहे सभी घर बैठ।''[1]

प्रथम सर्ग में साकेत नगरी की भव्यता का वर्णन है जिसमें उर्मिला और लक्ष्मण का संवाद भी होता है। दूसरे सर्ग में रामकथा आगे बढ़ती है जिसमें कैकेयी दशरथ जी से अपने दो वरदान माँगती हैं जिसे सुनकर दशरथ मूर्छित हो जाते हैं। तीसरे सर्ग में कथा आगे प्रस्थान करती है जिसमें राम बन जाने के लिए सबसे मिलने जाते हैं। इस सर्ग में भ्रातृत्व प्रेम की अनुपम झाँकी देखने को मिलती है—

''इधर मैं दास लक्ष्मण हूँ तुम्हारा,
उधर हो जाये चाहे लोक सारा।''[2]

चौथे सर्ग में कौसल्या और सीता के देवार्चन की तैयारी होती है तथा राम अपनी माताओं से आशीर्वचन लेते हैं। पाँचवें सर्ग में राम, लक्ष्मण और सीता वन को प्रस्थान करते हैं और चलते-चलते चित्रकूट पहुँचते हैं। छठे सर्ग में रामवनगमन से साकेत दु:खी है, दशरथ राम वियोग में अपने प्राणों का त्याग कर देते हैं और भरत ननिहाल से बुलाये जाते हैं। उर्मिला का उदात्त चरित्र यहाँ सबको आकृष्ट करने वाला है—

''सीता ने अपना भाग लिया,
पर इसने वह भी त्याग दिया।
गौरव का भी है भार यही,
उर्वी भी गुर्वी हुई मही।''[3]

सातवें सर्ग में भरत ननिहाल से आते हैं, महल के षड़यंत्र सुनकर बड़े दु:खी होते हैं और रोते हुए अपने पिता का अन्तिम संस्कार करते हैं। कौसल्या, भरत को निर्दोष घोषित करती है—

'वत्स रे आ जा, जुड़ा यह अंक,
भानुकुल के निष्कलंक मयंक।
मिल गया मेरा मुझे तू राम,
तू वही है, भिन्न केवल नाम
एक सुहृदय और एक सुगात्र,
एक सोने के बने दो पात्र।''[4]

अष्टम सर्ग में चित्रकूट की सभा के साथ कैकेयी के अनुताप का बहुत मार्मिक चित्रण किया गया है। कवि के राम का उद्घोष है—

''भव में नव वैभव व्याप्त कराने आया,
नर को ईश्वरता प्राप्त कराने आया
सन्देश यहाँ मैं नहीं स्वर्ग का लाया,
इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया।''[5]

कैकेयी के पश्चाताप से उसका चरित्र उज्ज्वल हो उठता है। सभा एक साथ उद्घोष करती है—

''सौ बार धन्य वह एक लाल की माई,
जिस जननी ने है जना भरत-सा भाई।
पागल-सी प्रभु के साथ सभा चिल्लाई
सौ बार धन्य वह एक लाल की माई।''[6]

नवाँ और दसवाँ सर्ग उर्मिला के विरह वर्णन के करुण दशा का चित्रण करता है जो कवि का अभीष्ट है। नवें सर्ग में कवि ने ऐसे-ऐसे गीतों की रचना करता है जो हिन्दी साहित्य की अमूल्य निधि बन गई है। उर्मिला की परदु:खकातरता किसी को भी आकृष्ट करने में समर्थ है—

''सुख दे सकते हैं तो दु:खी जन ही मुझे,
उन्हें यदि भेटूँ,
कोई नहीं यहाँ क्या जिसका कोई अभाव
मैं भी मेटूँ?''[7]

ग्यारहवें सर्ग में भरत और मांडवी का परस्पर वार्त्तालाप है। आगे की कथा शत्रुघ्न को एक व्यक्ति बताता है। भरत और हनुमान मिलाप के साथ सर्ग समाप्त हो जाता है।

अन्तिम और बारहवें सर्ग में साकेत का वर्णन है, मेघनाद और रावण वध होता है। उर्मिला लक्ष्मण संवाद के साथ महाकाव्य अपने पूर्णता को प्राप्त करता है। इस तरह से साकेत रामकथा की अगली कड़ी सिद्ध होती है। तुलसीदास के रामचरितमानस के बाद 'साकेत' का महाकाव्यों में उत्कृष्ट स्थान है। इस महाकाव्य में रामकथा के साथ-साथ आधुनिकता, युगबोध और मानवता का भी पूरा-पूरा वर्णन मिलता है जिसका निर्वहन पात्र अपने चरित्रों के माध्यम से बखूबी करते हैं।

'साकेत' की रामकथा परम्परागत होते हुए भी उसमें आधुनिकता है। यह जनजीवन से ओत-प्रोत मानवतावादी काव्य है। मैथिलीशरण मानव मात्र के उन्नायक और अभ्युदय के समर्थक हैं। हिन्दी के लगभग सभी आलोचक प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से यह मानते रहे हैं। गुप्त जी की कृतियों में पारिवारिकता केन्द्रीय संवेदना के रूप में चित्रित हुई है। साकेत भी इसका अपवाद नहीं है। गुप्त

जी की यही पारिवारिक मार्मिकता साहित्य संवेदना है। रामस्वरूप चतुर्वेदी का कथन है—''जैसे तुलसी मूलतः पारिवारिक जीवन के चितेरे हैं, वैसे ही आधुनिक काल में मैथिलीशरण गुप्त।''[8]

'साकेत' के काव्यत्व को लेकर आलोचकों के अपने-अपने मत हैं। डॉ. नगेन्द्र साकेत को 'जीवन काव्य' की संज्ञा से अभिहित करते हैं। महावीर प्रसाद द्विवेदी ने इसे 'महाकाव्य' कहा है। नन्द दुलारे वाजपेयी ने इसे 'आधुनिक हिन्दी का युग प्रवर्तक महाकाव्य' कहा है। विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने 'एकार्थ-काव्य' की संज्ञा दी है।

स्पष्ट है साकेत एक महाकाव्य के गुणों से परिपूर्ण है। यह रामकथा शृंखला में एक महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन करता है। यह भाव पक्ष और कला पक्ष दोनों दृष्टियों से महत्वपूर्ण रचना बन पड़ी है। रामकथा की परम्परा को आगे बढ़ाने में साकेत की भूमिका असंदिग्ध है। इस रचना के सभी पात्र आधुनिक मानवीय मूल्यों से परिचालित हैं।

सन्दर्भ

1. मैथिलीशरण गुप्त, साकेत, साहित्य सदन, झाँसी, संस्करण-2014 ई., पृ. 189
2. वही, पृ. 35
3. वही, पृ. 81
4. वही, पृ. 107
5. वही, पृ. 124
6. वही, पृ. 133
7. वही, पृ. 148
8. रामस्वरूप चतुर्वेदी, हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण-2016 ई., पृ. 98

   डॉ. प्रभाकर शुक्ल, मैथिलीशरण गुप्त, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, प्रथम संस्करण-2006 ई., पृ. 51

प्रदीप कुमार विश्वकर्मा

शोध छात्र, हिन्दी विभाग

दीनदयाल उपाध्याय गोरखपुर

विश्वविद्यालय गोरखपुर

पुस्तक समीक्षा

पत्रकारिता में प्रतिक्रिया भाग-1

– डॉ. संजीव कुमार गौतम

वरिष्ठ लेखक तथा पत्रकार डॉ. जसवंत सिंह जनमेजय की स्वराज प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली-110002 द्वारा प्रकाशित पुस्तक 'पत्रकारिता में प्रतिक्रिया भाग-1' अपने प्रकार की अनोखी पुस्तक है, इस पुस्तक के अध्ययन से पाठकगण यह सोचने को मजबूर हो जाते हैं कि किस प्रकार लेखक ने अपनी पुस्तक ''पत्रकारिता में प्रतिक्रिया भाग-1'' में गागर में सागर समाहित किया है? क्योंकि देश के ज्वलंत मुद्दों से संबंधित शायद ही कोई ऐसा पहलू (पक्ष) रहा हो, जिसे लेखक ने अपनी इस पुस्तक का अंग (भाग) न बनाया हो। इस महत्त्वपूर्ण कार्य को लेखक ने उसी प्रकार अंजाम दिया है जिस प्रकार कि एक-एक तिनका एकत्रित करके चिड़िया अपना घोंसला बनाती है। इस पुस्तक का सबसे बड़ा सार्थक पक्ष यह है कि लेखक ने लगभग 16 वर्षों (1996-2012) तक देश के सभी ज्वलंत मुद्दों (पक्षों) से संबंधित लेखों, टिप्पणियों को बड़े ही बेबाक तरीके से लिखा है तथा इन सभी लेखों को देश के लगभग सभी राष्ट्रीय हिन्दी भाषीय समाचार पत्रों तथा पत्रिकाओं ने प्रकाशित किया है।

कुल 164 पृष्ठों तथा चार खण्डों (1) सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक संदर्भ (25-40 पृष्ठ) (2) कला, साहित्य और सांस्कृतिक संदर्भ (43-89 पृष्ठ) (3) बुद्ध, अम्बेदकर-दलित प्रसंग (98 से 148 पृष्ठ) (4) विविध प्रसंग (151-164 पृष्ठ) में विभाजित इस पुस्तक का महत्व उस समय और बढ़ जाता है, जब पाठकगण इस पुस्तक को बार-बार पढ़ने को लालायित होते हैं क्योंकि लेखक का लिखने का बेबाक अंदाज ऐसा है कि लेखक के लेखों, पत्रों तथा टिप्पणियों को देश के राष्ट्रीय हिन्दी भाषीय समाचार पत्रों-दैनिक जागरण, अमर उजाला, हिन्दुस्तान, राष्ट्रीय सहारा, जनसत्ता और नवभारत टाइम्स तथा यू॰ जी॰ सी॰ केयर लिस्ट में शामिल शोध पत्रिकाओं- हंस, वागर्थ, बहुरि नहिं आवना एवं समयांतर तथा देश की प्रतिष्ठित राष्ट्रीय प्रान्तीय पत्रिकाओं- इण्डिया टूडे, वॉयस ऑफ बुद्धा, विज्ञान प्रगति, शिक्षा विकास परिषद: स्मारिका, कत्यूरी मानसरोवर, भीम क्रान्ति, सम्यक पब्लिक भारत, बयान, कथादेश, बहुजन न्यूज, प्रतियोगिता दर्पण, समतावादी भारत पत्रिका, फारर्वड प्रेस पत्रिका, अम्बेडकर टुडे, समता संगठन, संघ दर्पण, अपेक्षा, अम्बेडकर मिशन पत्रिका, रिमा भारती, हम-दलित, प्रबुद्ध भारत, अश्वघोष, दलित हितैषी, सामाजिक न्याय संदेश, लाइफ पाजिटिव, पाखी, साहित्य रंजन, कादम्बिनी, युवा संवाद, योजना, शब्द प्रवाह, अभिमूक नायक, विपाशा, सर्व शान्ति, नई दुनिया, व्यंग्य यात्रा, युवा संवाद, विश्व स्नेह समाज पत्रिका, सरिता, चौथी दुनिया, जगमग दीप ज्योति, सीनियर इण्डिया, मड़ई वार्षिकी, दलित साहित्य वार्षिकी, प्रबुद्ध जगत, परिकथा, हम साथ-साथ, प्रवासी, कथन पत्रिका, दि सण्डे पोस्ट, नया ज्ञानोदय, इण्डिया न्यूज, अक्षरम् संगोष्ठी, द सण्डे इण्डियन, कथा संसार-विशेषांक, उत्तरांचल पत्रिका, भारतीय लेखक पत्रिका, कथन, कथाक्रम, क्रान्ति, लोकायत, युद्धरत आम आदमी, कथा देश, बहुजन केसरी, धम्म दर्पण, दलित अस्मिता इत्यादि में लेखक के पत्रों, लेखों तथा टिप्पणियों को लगातार 16 वर्षों (1996-2012) तक प्रकाशित करने को मजबूर होना पड़ा।

समाप्ति की ओर पहुँचते हुए मैं इतना ही कहना चाहूँगा कि अच्छी लेखनी में वो अद्‌भुत ताकत होती है, जो किसी भी समय, काल, परिस्थिति व क्षेत्र से संबंधित ज्वलंत मुद्‌दों की वास्तविक तस्वीर आम जनता के सामने ऐसे पेश करती है कि पाठकगण समझें कि यह सब हमारी आँखों के सामने की ही घटनाएँ घटित हुई हैं और यह सब वरिष्ठ पत्रकार व लेखक डॉ. जसवंत सिंह जनमेजय ने अपनी पुस्तक ''पत्रकारिता में प्रतिक्रिया भाग-1'' के माध्यम से बखूबी कर दिखाया है और इसलिए जसवंत सिंह जनमेजय अपनी इस सारगर्भित पुस्तक को लिखने के लिए सर्वथा बधाई के पात्र हैं।

डॉ. संजीव कुमार गौतम
अध्यक्ष- आधुनिक विद्या संकाय एवं
अध्यक्ष- इतिहास विभाग
केन्द्रीय बौद्ध विद्या संस्थान,
(सम विश्वविद्यालय)
लेह, 194104 केन्द्र शासित प्रदेश लद्दाख।
Email: skgautamcibsleh@gmail.com

RNI NO. : DELHIN/2008/27588
An International Peer Reviewed Research Journal
Website : www.bahurinahiawana.in